MHI-03

इतिहास-लेखन

आधुनिक काल में इतिहास-लेखन की दृष्टियाँ-2

5

''शिक्षा मानव को बन्धनों से मुक्त करती है और आज के युग में तो यह लोकतंत्र की भावना का आधार भी है। जन्म तथा अन्य कारणों से उत्पन्न जाति एवं वर्गगत विषमताओं को दूर करते हुए मनुष्य को इन सबसे ऊपर उठाती है।''

— *इन्दिरा गांधी*

"Education is a liberating force, and in our age it is also a democratising force, cutting across the barriers of caste and class, smoothing out inequalities imposed by birth and other circumstances."

– Indira Gandhi

इन्दिरा गाँधी
राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ

MHI-03
इतिहास-लेखन

खंड

5

आधुनिक काल में इतिहास-लेखन की दृष्टियाँ-2

विशेषज्ञ समिति

प्रो. बिपन चंद्रा
प्रोफेसर, इतिहास
सेंटर फॉर हिस्टारिकल स्टडीज़
जे.एन.यू., नई दिल्ली

प्रो. कपिल कुमार
इतिहास संकाय
इग्नू, नई दिल्ली

डॉ. सलिल मिश्रा
इतिहास संकाय
इग्नू, नई दिल्ली

प्रो. सब्यसाची भट्टाचार्य
पूर्व-प्रोफेसर, इतिहास
सेंटर फॉर हिस्टारिकल स्टडीज़
जे.एन.यू., नई दिल्ली

प्रो. ए. आर. खान
इतिहास संकाय
इग्नू, नई दिल्ली

डॉ. शशिभूषण उपाध्याय (*संयोजक*)
इतिहास संकाय
इग्नू, नई दिल्ली

प्रो. नीलाद्रि भट्टाचार्य
प्रोफेसर, इतिहास
सेंटर फॉर हिस्टारिकल स्टडीज़
जे.एन.यू., नई दिल्ली

प्रो. रविन्द्र कुमार
इतिहास संकाय
इग्नू, नई दिल्ली

प्रो. के.एल. टुटेजा
प्रोफेसर, इतिहास
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र

प्रो. स्वराज बसु
इतिहास संकाय
इग्नू, नई दिल्ली

कार्यक्रम संयोजक : प्रो. ए. आर. खान

पाठ्यक्रम सम्पादक : प्रो. सब्यसाची भट्टाचार्य

पाठ्यक्रम संयोजक : डॉ. शशिभूषण उपाध्याय

खंड निर्माण दल

इकाई संख्या	इकाई लेखक	इग्नू संकाय
इकाई 15	डॉ. शशिभूषण उपाध्याय इतिहास संकाय इग्नू, नई दिल्ली	डॉ. शशिभूषण उपाध्याय (संरचना और विषय संपादन)
इकाई 16	डॉ. शशिभूषण उपाध्याय इतिहास संकाय इग्नू, नई दिल्ली	
इकाई 17	प्रो. उमा चक्रवर्ती प्रोफेसर, इतिहास दिल्ली विश्वविद्यालय	**अनुवाद :** इकाई 15, 16 और 17 श्री आनंद स्वरूप वर्मा
इकाई 18	डॉ. मीना राधाकृष्ण नेहरू स्मारक पुस्तकालय नई दिल्ली	इकाई 18 श्री राजेन्द्र पांडे

सामग्री निर्माण	आवरण	पांडुलिपि निर्माण
श्री जितेन्द्र सेठी श्री एस.एस. वेंकटाचलम श्री मंजीत सिंह	ग्रैफिक प्वाइंट नई दिल्ली	श्री प्रतुल वशिष्ठ

मई, 2006

ISBN-81-266-2412-4

इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रमों के विषय में और अधिक जानकारी विश्वविद्यालय के कार्यालय, मैदान गढ़ी, नई दिल्ली-110068 से प्राप्त की जा सकती है।

इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की ओर से निदेशक, सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित।

"Paper used: Agrobased Environment Friendly"

लेजर कम्पोजिंग : राजश्री कम्प्यूटर्स, V-166A, भगवती विहार, उत्तम नगर, नई दिल्ली-110059

मुद्रक : करन प्रैस, जैड - 41, ओखला फेस - 2, नई दिल्ली — 110020

खंड 5 आधुनिक काल में इतिहास-लेखन की दृष्टियाँ-2

इतिहास लेखन अतीत का आख्यान मात्र नहीं है; यह उन आख्यानों में निहित सिद्धांतों और प्रवृत्तियों के बारे में भी है। विचार की कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ हैं जो कभी इतिहास के सिद्धांतों के रूप में प्रकट होती हैं, तो कभी इतिहास के आख्यान के पीछे अनकही अवधारणाओं में। ये प्रवृत्तियाँ कभी शुद्ध दार्शनिक विमर्श से पैदा होती हैं, तो कभी राजनीतिक चिंतन या सामाजिक सरोकारों से। इतिहास-लेखन पर इन प्रवृत्तियों का प्रभाव पड़ा है, और उसने इन प्रवृत्तियों के विकास में योगदान भी दिया है।

निम्नलिखित इकाइयों (इकाई 15 से 18 तक) में हम कुछ ऐसी चिंतन की प्रवृत्तियों पर विचार करेंगे जिन्होंने हाल के दशकों में इतिहास-लेखन को प्रभावित किया है। एक छोटे निबंध की सीमाओं में इन प्रवृत्तियों और उनके सैद्धांतिक आधार का विवरण देना लेखकों के लिए आसान कार्य नहीं था। इसके अलावा, इन सिद्धांतों के विकास की प्रक्रिया तीव्र वाद-विवाद का विषय रही है। इकाई-लेखकों को इसकी पूर्ण स्वतंत्रता थी कि वे इस विकास को अपनी सोच के अनुरूप प्रस्तुत कर सकें और इन विषयों पर आगे विस्तृत चर्चा अध्ययन केन्द्रों में परामर्श सत्रों में होगी।

इस भूमिका में उन बातों को दुहराने की आवश्यकता नहीं है जो आप इस खंड की इकाइयों में पढ़ेंगे। जिस मुद्दे पर विचार किया जाना चाहिए, वह इस प्रकार हैं : विभिन्न विचार प्रवृत्तियों में हमने इस खंड में विवेचित प्रवृत्तियों को ज़्यादा महत्त्वपूर्ण क्यों माना? यह प्रश्न हमें इतिहास-लेखन और समाज के बीच संबंध के केन्द्र बिन्दु तक ले जाता है जो ऐतिहासिक अन्वेषण को जन्म देता है और उसका पोषण करता है। जैसे-जैसे मानव-समाज का विकास हुआ है, नए मुद्दे सामने आए हैं या पुराने मुद्दों पर नए ढंग से सोचा जाने लगा है। उदाहरण के तौर पर लिंग और इतिहास-लेखन के बीच का संबंध। महिलाओं की अधीनता और उनके सशक्तीकरण से संबंधित चिंताओं और बहसों ने इतिहास-लेखन में इन मुद्दों के प्रति संवेदना पैदा किया है। यह महसूस किया जाने लगा कि महिलाएँ इतिहास के पृष्ठों में अदृश्य हैं और परंपरागत इतिहास 'पुरुषों की कहानी' मात्र बनकर रह गया है। फलस्वरूप, अब ऐसे इतिहास की खोज शुरू हो गई है जिसमें महिलाएँ भी शामिल हों। इसके कारण ऐतिहासिक अन्वेषण का क्षेत्र बहुत बढ़ गया है और इस परिवर्तन को इतिहास-लेखन में एक क्रांति के रूप में समझा जा सकता है।

इस खंड में इतिहास के जिस अन्य उपेक्षित पहलू पर प्रकाश डाला गया है वह है नस्ल और नस्ल-संबंधों का मुद्दा। बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में विउपनिवेशीकरण की प्रक्रिया तथा पूर्व उपनिवेशों की आजादी के बाद नस्लवाद को साम्राज्यवादी विचार और व्यवहार के पहलू के रूप में पहचाना गया। यूरोप में नाजीवाद की परिघटना को आलोचनात्मक रूप से समझने की कोशिश ने भी इसी मुद्दे पर ध्यान केन्द्रित किया। हाल के वर्षों में बहुजातीय समाजों में 'नस्लीय समस्या' और भूमंडलीकरण के युग में बड़े पैमाने पर प्रव्रजन ने इतिहास-लेखन में नस्ल के मुद्दे पर ध्यान आकर्षित किया है। नस्ल बहुत पहले से विभिन्न समाजों में प्रभुत्व के विमर्श में एक राजनीतिक संरचना रही है, लेकिन इतिहास-लेखन में इसकी व्यवस्थित आलोचना पिछले कुछ दशकों से ही शुरू हुई है।

वर्तमान इतिहास-लेखन में मार्क्सवाद की प्रासंगिकता निर्विवाद है। उदाहरण के तौर पर ऐसी अनेक राजनीतिक इकाइयाँ हैं (राजनीतिक दलों से लेकर राज्यों तक) जो अपने को 'मार्क्सवादी' घोषित करती हैं : बीसवीं सदी के अधिकतर समय में उनकी उपस्थिति, उनका राजनीतिक व्यवहार, और उनका विचारधारात्मक एजेंडा मार्क्सवादी ऐतिहासिक दृष्टि से संचालित थे। जहाँ इस दृष्टि में बहुत परिवर्तन नहीं हुआ है, इतिहास-लेखन के क्षेत्र में शास्त्रीय मार्क्सवाद के जमाने

से बहुत बदलाव आ गया है और यह बताया गया है कि क्यों आज भी मार्क्सवादी सिद्धांत इतिहास-लेखन की एक महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति है।

अन्त में, इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि जहाँ लिंगभेद, नस्ल और वर्ग की शब्दावलियाँ अब तक वर्णित इकाइयों के केन्द्र में हैं वहीं आधुनिकता शब्द उत्तर आधुनिकतावाद से संबंधित इकाई के केन्द्र में है। वैसे तो इतिहास के क्षेत्र में उत्तर आधुनिकतावाद के समर्थक कम ही हैं, लेकिन साहित्यिक आलोचना और सांस्कृतिक अधययन के क्षेत्र में इसका खासा प्रभाव है। यह इतिहास के प्रति एक विवादास्पद दृष्टिकोण है। कुछ इतिहासकार तो इसे इतिहास-विरोधी मानते हैं। इकाई 16 में इसके बारे में विस्तार से चर्चा की गई है।

इकाई 15 हाल के मार्क्सवादी दृष्टिकोण

इकाई की रूपरेखा

15.1 प्रस्तावना

इकाई 13 में आपने शास्त्रीय मार्क्सवादी परंपरा के बारे में पढ़ा जिसकी शुरुआत कार्ल मार्क्स (1818-1883) और फ्रेडरिक ऐंगल्स (1820-1895) से हुई। इस इकाई में अब यूरोपीय देशों में राजनीतिक और सैद्धांतिक स्तरों पर आए परिवर्तनों के बारे में पढ़ेंगे जिन्होंने द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद यूरोप के मार्क्सवादी विद्वानों के बीच इतिहास-लेखन के प्रति सुस्पष्ट रूप से विभिन्न दृष्टिकोणों को जन्म दिया। इस तरह के लेखन ने भारत सहित अनेक देशों के इतिहासकारों को प्रभावित किया। इन इतिहासकारों द्वारा स्थापित नयी प्रस्थापनाओं का समूची दुनिया में इतिहास-लेखन की दिशा पर जबर्दस्त प्रभाव पड़ा। उनके शोध की गहनता, उनके कार्यों का परिमाण, उनके विषय का विस्तार तथा अतीत को समझने में उनकी अंतर्दृष्टि संभवतः अनाल स्कूल के इतिहासकारों के लेखन को छोड़ दें तो बेजोड़ थी। इन नये मार्क्सवादी इतिहासकारों ने जिन बौद्धिक स्त्रोतों से सामग्री ली थी और जिन क्षेत्रों में प्रवेश किया था उनका इससे पूर्व के मार्क्सवादी इतिहासकारों ने अन्वेषण नहीं किया था। इतिहास के क्षेत्र में उनकी प्रारम्भिक उपलब्धियों को प्रशंसा और आलोचना दोनों का स्वाद मिला। इस इकाई में हम उनकी विविध उपलब्धियों से आपको परिचित कराने का प्रयास करेंगे। हम ब्रिटिश मार्क्सवादी इतिहासकारों पर विशेष ध्यान देंगे जिनका भारतीय इतिहासकारों पर बहुत स्पष्ट प्रभाव दिखायी देता है। लेकिन हम पश्चिम के कुछ अन्य मार्क्सवादी इतिहासकारों पर भी चर्चा करेंगे जिनका मार्क्सवादी इतिहास-लेखन को नयी दिशा देने में महत्त्वपूर्ण योगदान है।

15.2 शास्त्रीय मार्क्सवादी परंपरा

प्रारंभ में ही इस बात पर जोर दिया जाना चाहिए कि इतिहास-लेखन की मार्क्सवादी परंपरा एक लंबी और विविधतापूर्ण परंपरा है। इसका विश्व के अनेक हिस्सों में इतिहास-लेखन पर प्रभुत्व रहा है और शेष हिस्से में इसकी अत्यंत महत्त्वपूर्ण उपस्थिति रही है। बीसवीं सदी के अधिकांश महत्त्वपूर्ण इतिहासकार किसी न किसी रूप में इतिहास के मार्क्सवादी सिद्धांतों से प्रभावित रहे हैं। जैसा कि एक महत्त्वपूर्ण टिप्पणीकार एस एच रिग्बी ने कहा कि मार्क्सवादी इतिहास-लेखन के व्यापक सर्वेक्षण का प्रयास कठिन है क्योंकि 'यह वस्तुतः विश्व का इतिहास लिखने जैसा होगा।' इसके अलावा इस बात पर भी ध्यान देने की जरूरत है कि मार्क्सवादी इतिहास-लेखन किसी एकाश्म, एकरूप और सनातन स्थिति का प्रतिनिधित्व नहीं करता है। मार्क्सवादी

इतिहासकार प्राय: एक दूसरे से असहमत रहे हैं। इसके अलावा उन्होंने इतिहास के विविध पहलुओं पर काम किया है।

मार्क्स और ऐंगल्स के संचित लेखन ने ऐतिहासिक भौतिकवाद के सिद्धांत की स्थापना की जिसने आदर्शवादी दर्शन के विभिन्न रूपों को चुनौती दी। इतिहास-लेखन के स्तर पर इसने व्यक्तियों से वर्गों पर, उच्च स्तर की राजनीति से अर्थव्यवस्था और जन राजनीति पर, राजनयिकों से क्रांतिकारियों पर और छुटपुट कारण-कार्य-संबंधों से उत्पादन पद्धति तथा सामाजिक बनावट पर ध्यान केंद्रित किया। इस सैद्धांतिक क्रांति ने इतिहास-लेखन की दिशा को जबर्दस्त ढंग से प्रभावित किया।

जहाँ तक इतिहास के मार्क्सवादी सिद्धांत का सरोकार है, एस एच रिग्बी ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि ऐतिहासिक भौतिकवाद के निर्माता मार्क्स और ऐंगल्स इतिहास की तीन विभिन्न अवधारणाओं से गुजरे। प्रारंभिक अवस्था में हेगेल के प्रभाव में उन्होंने इतिहास को 'मानव आनुवंशिकी' के अर्थों में देखा। इसका अर्थ यह हुआ कि इतिहास की गति को एक ऐसे 'अतिमेहराबदार प्रगति के रूप में देखा गया' जिससे होकर मानवता पूरी तरह मानवीय, स्वतंत्र और तर्कसंगत समुदाय का स्वरूपग्रहण करने से पूर्व आत्म अपवर्तन तथा सामाजिक सूक्ष्मीकरण के आवश्यक नकारात्मक दौर से गुजरते हुए अपने पूर्ण आत्म ज्ञान को प्राप्त करती है।' बाद में 1840 के दशक के मध्य में मार्क्स और ऐंगल्स ने 'दि होली फेमिली' और 'दि जर्मन आइडियोलॉजी' जैसी कृतियों में 'उपयोगितावादी' दृष्टिकोण अपनाया जहाँ व्यक्तियों और समूहों की जरूरतें अपेक्षाकृत ज़्यादा महत्त्वपूर्ण हो जाती हैं। अंतत: बाद की कृतियों में मसलन *कांट्रीब्यूशन टु दि क्रिटिक ऑफ पोलिटिकल इकॉनामी, कैपिटल* और *एंटीड्यूहरिंग* की प्रस्तावना में एक 'विधि विज्ञान संबंधी' दृष्टिकोण अपनाया जिसमें मानवीय माध्यम को महत्त्वपूर्ण नहीं समझा गया। इसकी बजाय मानव इतिहास को 'एक ऐसी प्राकृतिक प्रक्रिया के सदृश्य' समझा गया जो '*उन आंतरिक गुप्त नियमों* के अनुसार घटित होती है जिसे उद्घाटित करना इतिहासकार का काम है।'

लुई अल्थुसर ने भी 'युवा मार्क्स' जिनका दृष्टिकोण हेगेलवादी और मानवतावादी था तथा 'परिपक्व मार्क्स' जो ढाँचागत अर्थों में सोचते थे, में भेद किया। अल्थुसर का मानना था कि बाद वाले मार्क्स ही सही थे और उनसे ही इतिहास तथा समाज का मार्क्सवादी सिद्धांत पैदा हुआ होगा। जी ए कोहेन ने इतिहास के मार्क्सवादी सिद्धांत के एक उल्लेखनीय अध्ययन में दलील दी है कि इस सिद्धांत के अनुसार उत्पादक शक्तियाँ ही समाज की मुख्य चालक शक्ति हैं। उत्पादक शक्तियाँ उत्पादन साधनों (जिनमें शामिल हैं उत्पादन के उपकरण और उत्पादन के लिए इस्तेमाल होने वाला कच्चा माल) तथा श्रम की प्रक्रिया का सम्मिलित रूप हैं। उत्पादन संबंध समाज के उत्पादन साधनों की पहुँच निर्धारित करते हैं और समाज की संपदा के पुनर्वितरण के बारे में फैसला लेते हैं। उत्पादन की शक्तियों और उत्पादन संबंधों दोनों को मिलाकर उत्पादन पद्धति का निर्माण होता है।

मार्क्स और ऐंगल्स के विभिन्न ग्रंथों के आधार पर समाज के एक तीन-स्तरीय मॉडल की पहचान की जा सकती है जो उत्पादक शक्तियों, उत्पादन संबंधों और राजनीतिक तथा वैचारिक अधिरचना पर आधारित है। इस क्रम में उत्पादक शक्तियाँ उत्पादन के सामाजिक संबंधों की प्रकृति का निर्धारण करती हैं जो राजनीतिक, वैचारिक और वैधानिक अधिरचना का निर्धारण करते हैं। उत्पादक शक्तियों में लगातार विकास होता है और जब यह विकास एक सीमा से बाहर चला जाता है तो उत्पादन के साधन उनके लिए पाँव की बेड़ी बन जाते हैं। ऐसी स्थिति में उत्पादन संबंध टुकड़े-टुकड़े होकर बिखर जाते हैं और विकसित उत्पादक शक्तियों के साथ तालमेल बैठाने के लिए नये उत्पादन संबंधों का गठन किया जाता है। इसी के अनुसार अधिरचना का भी गठन होता है। इसी योजना के तहत समग्र मानव इतिहास कुछ उत्पादन पद्धतियों में विभाजित थे-आदिम साम्यवाद, एशियाटिक, प्राचीन, सामंती और पूँजीवादी। भावी समाज

समाजवादी और अंततः साम्यवादी उत्पादन पद्धति को जन्म देगा। इस सिलसिले में मार्क्स और ऐंगल्स ने 'दि जर्मन आइडियोलॉजी' तथा 'कंट्रीब्यूशन टु दि क्रिटिक ऑफ पोलिटिकल इकोनॉमी' के प्रस्तावना में महत्त्वपूर्ण दलीलें दी हैं। अपनी इस दूसरी पुस्तक में मार्क्स ने लिखा :

> 'अपने अस्तित्व के सामाजिक उत्पादन में मनुष्य अनिवार्य रूप से एक निश्चित संबंधों में प्रवेश करता है जिसे उत्पादन संबंध कहते हैं और जो उनकी इच्छा से स्वतंत्र है। उत्पादन संबंधों की समग्रता के अंतर्गत समाज की आर्थिक संरचना और वास्तविक बुनियाद आते हैं जिनपर एक वैध और राजनीतिक अधिरचना खड़ी होती है और जिसके अनुरूप सामाजिक चेतना के निश्चित स्वरूपों का निर्माण होता है। भौतिक जीवन की उत्पादन पद्धति सामाजिक, राजनीतिक और बौद्धिक जीवन की प्रक्रिया का अनुकूलन करती है। मनुष्य की चेतना अस्तित्व का निर्धारण नहीं करती बल्कि उनके सामाजिक अस्तित्व उनकी चेतना का निर्धारण करते हैं।'

मार्क्स और ऐंगल्स के तुरंत बाद के मार्क्सवादी सिद्धांतविदों और इतिहासकारों ने अपने सैद्धांतिक और इतिहास विषयक कार्यों में तर्क की इसी दिशा का पालन किया। काउत्स्की, प्लेखानोव, लेनिन, बुखारिन, स्टालिन और ट्राटस्की जैसे मार्क्सवादियों के लिए इतिहास की यह व्याख्या मार्क्सवाद का आधिकारिक हिस्सा रहा। इतिहास के मार्क्सवादी सिद्धांत की व्याख्या के लिए अनेक पुस्तकें लिखी गयीं। फ्रैंज मेहरिंग (1846-1919) ने 1893 में *ऑन हिस्टॉरिकल मैटिरियलिज्म* लिखा; ज्यार्जी प्लेखानोव (1856-1918) ने 1895 में *दि डेवलपमेंट ऑफ दि मोनिस्ट कांसेप्शन ऑफ हिस्ट्री* लिखा; अंतोनियो लैब्रिओला (1843-1904) ने 1896 में *एसेज ऑन दि मैटियलिस्ट कांसेप्शन ऑफ हिस्ट्री* लिखा और कार्ड काउत्स्की (1854-1938) ने *मैटिरियलिस्ट कांसेप्शन ऑफ हिस्ट्री* लिखा जिसका प्रकाशन 1927 में हुआ। इन पुस्तकों का उद्देश्य इतिहास के मार्क्सवादी दृष्टिकोण को अंतिम स्वरूप देना था। इन्होंने आमतौर पर उत्पादक शक्तियों के महत्त्व को रेखांकित किया क्योंकि इनके अनुसार यही उत्पादन संबंधों और इस प्रकार समग्र रूप से समाज की प्रकृति का निर्धारण करती हैं। प्रायः मार्क्स के इस वक्तव्य को उद्धृत किया जाता है जिसमें उन्होंने कहा था कि 'हाथ से चलने वाली मिल ने आपको सामंतों का समाज दिया और भाप से चलने वाली मिल ने औद्योगिक पूँजीपतियों का समाज दिया।'

इसके अलावा शुरुआती दिनों के मार्क्सवादियों के बीच अर्थव्यवस्था और उत्पादन पद्धति के अध्ययन को जबर्दस्त महत्त्व मिला। आर्थिक स्थितियों तथा पूँजीवाद के साम्राज्यवाद में विकास को लेकर अनेक पुस्तकें लिखी गयीं। कार्ल काउत्स्की ने 1899 में *एग्रेरियन क्वेश्चन* शीर्षक से एक पुस्तक लिखी जिसमें यूरोप तथा अमेरिका के कृषि में आए परिवर्तनों की खोज की गयी थी। उसी वर्ष वी आई लेनिन (1870-1924) ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक *दि डेवलपमेंट ऑफ कैपिटलिज्म इन रशिया* लिखी। 1910 में रुडोल्फ हिल्फरदिंग (1877-1941) ने *फायनेंस कैपिटल* प्रकाशित किया जिसमें पूँजीवाद के बदलते स्वरूप और इजारेदारी, केंद्रीकरण, व्यापार युद्धों तथा आक्रामक विस्तार में इसके विकास की खोज की गयी थी। रोजा लग्ज़मबर्ग (1871-1919) की पुस्तक *एक्यूमुलेशन ऑफ कैपिटल* (1913), निकोलाई बुखारिन (1888-1938) की पुस्तक *इंपीरियलिज़्म एण्ड वर्ल्ड एकॉनॉमी* (1915) और लेनिन का विख्यात अध्ययन *इंपीरिलिज़्म-दि हाइएस्ट स्टेज ऑफ कैपिटलिज़्म* (1916) – इसी दिशा में किये गये अध्ययन थे।

तो भी मार्क्स और ऐंगल्स दोनों ने इतिहास का एक वैकल्पिक नजरिया प्रस्तुत किया जिसमें उत्पादन के सामाजिक संबंध इतिहास की धारा को परिवर्तित करने में अपेक्षाकृत ज़्यादा महत्त्वपूर्ण और निर्णायक भूमिका निभाते हैं। वस्तुतः जब उत्पादक शक्तियों की निर्णयकारी व्याख्याएँ रूढ़ होने लगीं तो ऐंगल्स ने इनमें सुधार करने का प्रयास किया। 1890 में अर्नस्ट ब्लाख को लिखे एक पत्र में ऐंगल्स ने बताया कि अपने सिद्धांत के बारे में वह और मार्क्स क्या सोचते हैं :

'मार्क्स और मुझे एक हद तक इस तथ्य के लिए दोषी ठहराया जाना चाहिए कि युवा लेखकों ने आर्थिक पक्ष पर जरूरत से ज़्यादा जोर दिया। हमने अपने दुश्मनों के खिलाफ, जो इससे इनकार करते थे, इस मुख्य सिद्धांत पर जोर दिया था और हमने हमेशा समय, स्थान या अवसर की कमी के कारण अन्य तत्त्वों को, जो इस अंत:क्रिया में शामिल थे, अपना अधिकार बनाने की अनुमति नहीं दी।'

उन्होंने आगे लिखा :

'इतिहास की भौतिकवादी अवधारणा के अनुसार इतिहास का निर्धारक तत्त्व अंतत: वास्तविक जीवन में उत्पादन और पुनरोत्पादन है। मार्क्स ने या मैंने कभी भी इससे ज़्यादा पर जोर नहीं दिया... आर्थिक स्थिति आधार है लेकिन उसके स्वरूप का निर्धारण करते हैं अधिरचना के विभिन्न तत्त्व मसलन वर्ग संघर्ष के राजनीतिक स्वरूप और इसके नतीजे, सफलतापूर्वक लड़े गये युद्ध के बाद विजेता वर्ग द्वारा बनाया गया संविधान आदि, कानून का स्वरूप और यहाँ तक कि इन वास्तविक संघर्षों के उन योद्धाओं के मस्तिष्क में बने प्रतिबिंब; राजनीतिक, वैधानिक, दार्शनिक सिद्धांत, धार्मिक विचार... ये सारी चीजें ऐतिहासिक संघर्ष की गति को भी प्रभावित करती हैं। इन सभी तत्त्वों के बीच एक अंत:क्रिया होती है और अनंत दुर्घटनाओं से होते हुए आर्थिक गति अंतत: अपनी अनिवार्यता स्थापित करती है... हम अपना इतिहास बनाते हैं लेकिन प्रारंभ में बहुत निश्चित पूर्वधारणाओं न कि स्थितियों के अंतर्गत। इनमें से आर्थिक पक्ष ही अंतत: निर्णायक होता है।

'मार्क्स ने पहले ही उत्पादन के स्वरूप को निर्धारित करने में सम्पत्ति संबंधों को निर्णायक माना था। 'ग्रंडरिसे' में उन्होंने बुर्जुआ अर्थशास्त्रियों की इस बात के लिए आलोचना की कि उन्होंने संपत्ति की प्रकृति अर्थात उत्पादन के सामाजिक संबंधों को ध्यान में रखे बिना उत्पादन के बारे में विचार किया। उनका कहना था कि: 'सभी उत्पादन प्रकृति का विनियोग है जो उसमें रहने वाले व्यक्ति या समाज के किसी विशिष्ट रूप के जरिये किया जाता है। इस अर्थ में देखें तो यह कहना कि संपत्ति उत्पादन की पूर्व स्थिति है, तथ्यों की पुनरुक्ति है... जहाँ सम्पत्ति का कोई रूप मौजूद नहीं है वहाँ न तो कोई उत्पादन हो सकता है और इसी लिए कोई समाज भी नहीं रह सकता है और यह भी एक पुनरुक्ति है।'

वह आगे कहते हैं कि उत्पादन की वास्तविक शुरुआत की तलाश 'समाज में उत्पादन करने वाले व्यक्तियों और इसी लिए सामाजिक तौर पर निर्धारित उत्पादन' में की जानी चाहिए। इस प्रकार उत्पादन संबंध वे महत्त्वपूर्ण कारक हैं जो विभिन्न उत्पादन पद्धतियों को परिभाषित करते हैं। मार्क्स ने *कैपिटल* (खंड 1) में कहा कि :

'समाज की विभिन्न आर्थिक बनावटों के बीच जो फर्क है – मसलन दास लोगों के श्रम पर आधारित समाज और वेतन भोगी मजदूरों पर आधारित समाज के बीच का फर्क– वह उस रूप में है जिसमें हर मामले में फालतू श्रम तात्कालिक उत्पादक अर्थात मजदूर से निचोड़ा जा रहा हो।'

मार्क्स और ऐंगल्स के इतिहास विषयक लेखन मसलन *क्लास स्ट्रगल इन फ्रांस* (1850), *एटींथ ब्रूमेर ऑफ लुई बोनापार्ट* (1852) और *सिविल वार इन फ्रांस* (1871) तथा *दि पीजेंट वार इन जर्मनी* ने भी इस व्याख्या के लिए सैद्धांतिक सामग्री प्रदान की।

इसलिए हम देखते हैं कि मार्क्स और ऐंगल्स की कृतियों से इतिहास के दो सिद्धांत प्रतिपादित किये जा सकते हैं एक तो यह कि उत्पादक शक्तियाँ सर्वोपरि हैं और वे इतिहास की गति का निर्धारण करती हैं तथा सामाजिक संबंध भौतिक उत्पादन का प्रतिफल हैं। लेकिन दूसरे सिद्धांत

में उत्पादन के सामाजिक संबंध ही निर्णयकारी भूमिका अदा करते हैं। शास्त्रीय मार्क्सवादी सिद्धांत का यह दूसरा रूपांतर यूरोप के बाद के मार्क्सवादी इतिहासकारों को पसंद आया।

इतिहास के मार्क्सवादी सिद्धांत के एक अन्य विवादास्पद मुद्दे का संबंध आधार और अधिरचना की परिभाषा तथा उनके आंतरिक संबंधों से है। परंपरागत तौर पर आधार को परिभाषित करते हुए बताया जाता है कि यह समाज के उत्पादन संबंधों द्वारा निर्मित है जो बुनियादी तौर पर आर्थिक ढाँचे द्वारा तय होते हैं। इसी पर अधिरचना खड़ी होती है जिसके अंतर्गत कानून, राजनीति और विचारधारा आते हैं। आधार और अधिरचना की इस धारणा ने मार्क्सवादियों तथा ग़ैर मार्क्सवादियों दोनों के बीच काफी बहस पैदा की है। यह बहसें मुख्य तौर पर दो क्षेत्रों में केंद्रित रहीं – प्रत्येक में कौन कौन से तत्त्व शामिल हैं और क्या इनके बीच स्थायी तौर पर कार्य-कारण की कोई श्रेणीबद्धता है। कट्टर मार्क्सवादी परंपरा के अंदर आमतौर पर यह स्वीकार किया जाता है कि उत्पादन के सामाजिक संबंध ही अधिरचना का निर्माण करते हैं। लेकिन बाद के अनेक मार्क्सवादियों ने इस धारणा को नामंजूर किया है। मिसाल के तौर पर लुई अल्थुसर समाज को आधार और अधिरचना के बीच बाँटने की बजाय इसे एक 'समग्र रूप से सुव्यवस्थित श्रेणीबद्धता' से पूर्ण मानते हैं। अल्थुसर की मार्क्स की संरचनावादी व्याख्या के अनुसार समाज को एक 'जटिल संरचनात्मक इकाई' के रूप में चित्रित किया गया है। सामाजिक बनावट के अंतर्गत 'जटिलताओं का एक निश्चित स्वरूप है, संरचनात्मक समग्रता का एकीकरण है जिनमें विभिन्न स्तर या घटनाएँ हैं जो विशिष्ट हैं और अपेक्षाकृत स्वायत्त हैं तथा इस जटिल संरचना के अंदर उनके बीच सह-अस्तित्व है और विशिष्ट निर्धारकों के अनुसार वे एक दूसरे से संवाद करते हैं।' इस प्रकार आर्थिक कारक- उत्पादन संबंध और उत्पादन की शक्तियाँ समाज का सीधे सपाट तरीके से निर्धारण नहीं करतीं। सभी स्तरों के विकास के अलग अलग रास्ते हैं। इसी प्रकार अन्य मार्क्सवादियों ने इसे भिन्न रूप से व्याख्यायित किया है जिसे किसी जमाने में एक रूढ़ दृष्टिकोण माना जाता था। मार्क्सवादी सामाजिक इतिहासकारों ने आमतौर पर समाज की अपेक्षाकृत जटिल धारणा प्रस्तुत की-उस धारणा के मुकाबले जिसने समाज को साफ-साफ आधार और अधिरचना के बीच बाँट दिया था जिसमें आधार ही अधिरचना का निर्धारण करता हो।

15.3 पश्चिमी मार्क्सवाद का उदय

प्रथम विश्वयुद्ध तक सारे महत्त्वपूर्ण मार्क्सवादी विचारक किसी-न-किसी रूप में क्रांतिकारी गतिविधियों में संलग्न थे। उनके सैद्धांतिक लेखन का एक बड़ा भाग इस वास्तविकता से जुड़ा था। विकसित पश्चिमी यूरोपीय देशों में क्रांति की विफलता तथा पिछड़े देश रूप में क्रांति की सफलता ने मार्क्सवादी विचारधारा के समक्ष नए सवाल खड़े किए। पूँजीवाद का नये रूप में दृढ़ीकरण तथा क्रांतिकारी सोवियत यूनियन का विलगाव तथा एक देश में समाजवाद को बचाने के लिए तीव्र संघर्ष ने क्रांतिकारी सिद्धांतों और व्यवहारों को ऐसे कदम उठाने के लिए बाध्य किया जिसे शास्त्रीय मार्क्सवाद व्याख्यायित नहीं कर सकता था। इसके अलावा, पश्चिमी यूरोप की सोशल डेमोक्रेटिक पार्टियों द्वारा अंधराष्ट्रवाद की वकालत तथा इसके फलस्वरूप द्वितीय इंटरनेशनल का खत्म होना अंतर्राष्ट्रीय मज़दूर एकता पर सवाल खड़े करने लगे। इन घटनाओं के फलस्वरूप पश्चिमी यूरोप में मार्क्सवादी सिद्धांत तथा क्रांतिकारी व्यवहार के बीच अंतर पैदा हो गया। पेरी एंडरसन ने एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक में कहा है कि ''इस परिवर्तित माहौल में क्रांतिकारी सिद्धांत में वह उत्परिवर्तन हुआ जिसे आज हम 'पश्चिमी मार्क्सवाद' के नाम से जानते हैं।' उन्होंने पश्चिमी मार्क्सवाद के मुख्य लक्षणों की रूपरेखा प्रस्तुत की :

> 'इस मार्क्सवाद का राजनीतिक व्यवहार से संरचनात्मक अलगाव इसका पहला और सबसे महत्त्वपूर्ण लक्षण है। प्रथम विश्वयुद्ध से पहले के मार्क्सवादियों की पीढ़ी में जो सिद्धांत और व्यवहार के बीच जीवन्त एकता थी और जिन्होंने पूर्वी और मध्य यूरोप में

> अपनी-अपनी पार्टियों में बौद्धिक और राजनीतिक दोनों भूमिकाएँ निभाईं। यह सिद्धांत और व्यवहार की एकता 1918 से 1968 के बीच, पश्चिमी यूरोप में, धीरे-धीरे खत्म होती चली गई।'

यद्यपि इन पश्चिमी बुद्धिजीवियों में से कुछ नवगठित कम्युनिस्ट पार्टियों के सदस्य तथा नेतृत्व में भी थे, फिर भी उनका सैद्धांतिक लेखन ज़्यादातर अलगाव की स्थिति में हुआ। 1920 के दशक के तीन महत्त्वपूर्ण मार्क्सवादी चिन्तक जार्ज लूकाच (1885-1971), कार्ल कोर्श (1886-1961) तथा अन्तोनियो ग्राम्शी (1891-1937) थे जो अपने देश की कम्युनिस्ट पार्टियों के महत्त्वपूर्ण राजनीतिक नेता थे। लेकिन उनका अधिकतर सैद्धांतिक लेखन या तो जेल में हुआ (जैसे ग्राम्शी का लेखन) या निर्वासन में (कोर्श और लूकाच के संदर्भ में)।

इसका सकारात्मक पहलू भी था। अब विचारों का विकास दिन-प्रतिदिन की राजनीतिक गतिविधियों से अलग करके किया जा सकता था। फलस्वरूप दर्शन में एक नई अभिरुचि उत्पन्न हुई। इसकी प्रेरणा मार्क्स की एक पहले की पांडुलिपि, जिसे *इकोनोमिक और फिलासोफिकल मैनस्क्रिप्ट* या 1844 की पेरिस पांडुलिपि के नाम से जाना गया, के 1932 में प्रकाशन से मिली। पश्चिमी मार्क्सवाद की सोच मुख्य रूप से अधिरचना के विभिन्न पहलुओं पर केन्द्रित हो गई। इसमें संस्कृति, खास तौर पर कला और साहित्य, अध्ययन के मुख्य क्षेत्र बन गए। लूकाच ने अपनी अधिकतर बौद्धिक ऊर्जा साहित्य-आलोचना में लगाई, एडोर्नो ने संगीत में तथा वाल्टर बेन्जामिन ने कला और साहित्य में।

इस परिवर्तन की प्राथमिक अभिव्यक्ति जर्मनी में हुई। 1923 में फ्रैंकफुर्ट स्कूल की स्थापना ने मार्क्सवाद की अकादिमीकरण की प्रक्रिया शुरू की। इस संस्था से जुड़े सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विचारकों में थे : मैक्स होर्खाइमर (1895-1973), हर्बर्ट मार्क्यूस (1898-1979), थियोडोर एडोर्नो (1903-1969) और युर्गेन हैबरमास (ज. 1929)। जार्ज लूकाच, अन्तोनियो ग्राम्शी, कार्ल कोर्श, ज्याँ पाल सात्र और लुई अल्थूसर अन्य महत्त्वपूर्ण मार्क्सवादी चिन्तक थे जिनका ज्ञानोत्पादन पर बहुत प्रभाव रहा। इनमें से ग्राम्शी का इतिहास-लेखन पर सबसे अधिक प्रभाव रहा। 'प्रभुत्व' के उनके सिद्धांत ने मार्क्सवादी विमर्श में एक बिल्कुल नया विचार जोड़ा। इसके द्वारा इस बात की व्याख्या की गई है कि पूँजीवादी तंत्र किस तरह से समाचारपत्र, स्कूल, चर्च और राजनीतिक पार्टियों के माध्यम से अपना वर्चस्व कायम रखे हुए है।

अब हम पश्चिम में इतिहास-लेखन की मुख्य प्रवृत्तियों पर चर्चा करेंगे।

15.4 पश्चिम में मार्क्सवादी इतिहास-लेखन की प्रवृत्तियाँ

फ्रांस, ब्रिटेन, इटली, जर्मनी और अमेरिका के मार्क्सवादी इतिहासकारों ने मार्क्सवादियों और उनके आलोचकों द्वारा मार्क्सवाद पर आरोपित आधार-अधिरचना के शुरुआती मॉडल पर पुनर्विचार शुरू कर दिया। इन इतिहासकारों ने मार्क्सवाद की उस व्याख्या से पूरी तरह अपने को अलग कर लिया जो एक नियतिवादी और प्रयोजनमूलक ढाँचे में उत्पादक शक्तियों को प्रमुखता देता था। इसके बजाय उन्होंने अपेक्षाकृत ज़्यादा एकीकृत दृष्टिकोण विकसित करना चाहा। इतिहास संबंधी उनके कार्यों से इसका प्रमाण मिलता है। अगले भाग में हम इन इतिहासकारों और उनके कार्यों के बारे में अलग से विचार करेंगे। इस भाग में हम उन प्रमुख प्रवृत्तियों की चर्चा करेंगे जो इन इतिहासकारों के कार्यों के जरिये सामने आयीं।

बाद के मार्क्सवादी इतिहासकारों को उत्पादक शक्तियों की प्रधानता स्वीकार करने में कठिनाई हुई और इस प्रकार उन्होंने सामाजिक ढाँचे का निर्धारण करने में वर्ग संघर्ष की भूमिका पर बल दिया। इसके अलावा उन्होंने आधार और अधिरचना के द्विभागीकरण पर और अधिरचना की भूमिका के निर्धारण पर भी सवाल उठाया।

दरअसल अपने इस दृष्टिकोण का समर्थन उन्हें मार्क्स और ऐंगल्स के कामों में मिला जिससे दो दिशाओं का पता चलाता था। अमूर्त विश्लेषण में उत्पादक शक्तियों और प्रयोजनमूलक विकास की प्रमुखता स्थापित होती थी। लेकिन जब ठोस घटनाओं का विश्लेषण किया जाता था तो एक अपेक्षाकृत जटिल व्याख्यात्मक ढाँचा वहाँ विकसित होता था जहाँ वर्गों के बीच संघर्ष मुख्य चालक होते थे। अनेक मार्क्सवादी इतिहासकारों ने इस तथ्य को ग्रहण किया और भविष्यवाणी की कि परिवर्तन की प्रमुख शक्ति वर्ग संघर्ष है। मिसाल के तौर पर रोमन साम्राज्य के पतन के अपने विश्लेषण में एफ डब्ल्यू वाल बैंक ने अपनी पुस्तक *दि डिक्लाइन ऑफ रोमन एम्पॉयर इन दि वेस्ट* (1946) ने दलील दी कि ग्रीक से लेकर रोमन काल तक उत्पादक शक्तियों का कोई विकास नहीं हुआ। इसकी वजह यह थी कि दासता पर आधारित उत्पादन संबंधों ने दासों और दासों के स्वामियों को इस प्रेरणा से शून्य कर दिया कि वे किसी भी तरह के प्रौद्योगिक खोजों का प्रयास करें। इससे वह स्थिति पैदा हुई जिसमें ऊपर से काफी भारी भरकम राजनीतिक तंत्र तो बना रहा लेकिन इस तंत्र के अनुरूप उत्पादक शक्तियों का विकास नहीं हुआ और इसी कारण उसका अस्तित्व समाप्त हो गया। इसी प्रकार रॉबर्ट ब्रेनर और यूजीन जेनोवेज ने सामाजिक और राजनीतिक पतन की जड़ें उस समय विद्यमान उत्पादन संबंधों (यूरोप में सामंती संबंधों और 19वीं शताब्दी की अमेरिका में दासता) में ढूँढ़ी न कि विकासशील उत्पादक शक्तियों और ठहरे हुए उत्पादन संबंधों के अंतर्विरोधों में।

हालाँकि बाद के मार्क्सवादी इतिहासकारों ने अभी भी उत्पादक शक्तियों के विस्तार की प्रवृत्ति पर ध्यान दिया (खास तौर पर पूँजीवाद के तहत) लेकिन इसे एक ऐसे सार्वभौम कानून के रूप में मानने से इनकार किया जो समान रूप से पूँजीवाद से पूर्व की उत्पादन पद्धतियों पर लागू हो सके। पूँजीवाद से पूर्व के समाजों के संदर्भ में पेरी एंडरसन ने दलील दी है कि 'विद्यमान उत्पादन संबंधों के भीतर उत्पादक शक्तियाँ अजीब ढंग से ठप्प हो जाती हैं या पीछे जाती हैं.. संक्रमण की अवधि में उत्पादन संबंध आमतौर पर उत्पादक शक्तियों से पूर्व परिवर्तित होती हैं न कि इसके विपरीत।'

तो भी इन इतिहासकारों ने आमतौर पर यह माना कि किसी भी समाज में संकट और परिवर्तन बुनियादी तौर पर इसकी आंतरिक गतिशीलता के कारण पैदा होता है न कि किसी बाहरी दबाव की वजह से। इस प्रकार सामंतवाद का पतन व्यापार के फिर से स्थापित होने की वजह से नहीं बल्कि खुद के अंदरूनी अंतर्विरोधों के कारण हुआ। इसी तरह रोमन साम्राज्य के पतन के पीछे बर्बर आक्रमण नहीं थे बल्कि इसकी आंतरिक कमजोरी थी।

अलग-अलग काल के संदर्भ में लिखते हुए मार्क्सवादी इतिहासकारों ने विभिन्न समाजों को उत्पादक शक्तियों के संदर्भ में न देखकर उनके खास उत्पादन संबंधों के आधार पर इन समाजों का वर्गीकरण किया। इसके अलावा विभिन्न उत्पादन पद्धतियों के अस्तित्व को लेकर अनेक असहमतियाँ हैं। मिसाल के तौर पर 'एशियाटिक' उत्पादन पद्धति की अवधारणा को अधिकांश मार्क्सवादी इतिहासकारों ने स्वीकार नहीं किया। इसी प्रकार उत्पादन की दास पद्धति को भारत सहित अनेक समाजों पर लागू करने योग्य नहीं पाया गया। वस्तुतः कुछ इतिहासकारों ने दलील दी कि प्राचीन ग्रीक और रोमन समाजों में भी उत्पादकों के बहुमत में दास शामिल नहीं थे और चल संपत्ति के रूप में दास प्रथा का इस्तेमाल कुछ क्षेत्रों और कुछ काल तक ही सीमित था। इस तरह यह नहीं कहा जा सकता कि प्राचीन विश्व को समान रूप से उत्पादन की दास पद्धति के रूप में चित्रित किया जाय।

इन असहमतियों के बावजूद मार्क्सवादी इतिहासकारों की धारणा है कि शिकार कर के आहार आदि जुटाने के दौर के बाद की सभी उत्पादन पद्धतियों को प्रभुत्वकारी वर्गों द्वारा उत्पादकों के अतिरिक्त श्रम की लूट वाले दौर के रूप में चित्रित किया जाय। यह बुनियादी तथ्य उस वर्ग संघर्ष को पैदा करता है जो सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिवर्तनों के लिए भी मुख्य चालक शक्ति है। यहाँ तक कि उन समाजों में जो निम्न वर्ग के प्रतिरोध से अपेक्षाकृत मुक्त

दिखायी देते हैं, वर्ग संघर्ष मौजूद है और शाब्दिक अथवा मौन समझौतों के जरिए प्रत्यक्ष रूप से सहमतिजन्य नियम और व्यवहार विकसित होते हैं।

यद्यपि मार्क्सवादी इतिहासकारों ने इतिहास के विभिन्न कालों और सामाजिक ढाँचों के विभिन्न रूपों के प्रति अपना सरोकार दिखाया है लेकिन पूँजीवाद के अधीन श्रमिक आंदोलन के जन्म और विकास ने इनका ज़्यादा ध्यान आकर्षित किया है। विकसित पूँजीवादी देशों में मजदूरों की संख्या और उनकी सामूहिकता तथा उनकी क्रांतिकारी क्षमता ने इन इतिहासकारों के अंदर दिलचस्पी पैदा की। इन्होंने अभिजात इतिहासकारों की उस प्रवृत्ति के खिलाफ भी लिखा जो समाज और राजनीति में हुए सभी सकारात्मक विकासों का श्रेय प्रभुत्वकारी वर्गों को देते हैं और निम्नवर्गों को उनके पिछड़ेपन के लिए कोसते हैं। मार्क्सवादी इतिहासकारों ने इस बात पर जोर दिया कि निम्नवर्गों को प्रतिक्रियावादी नहीं समझा जाना चाहिए और सामाजिक तथा राजनीतिक मूल्यों की रचना में उनकी भूमिका को सामने लाना चाहिए। इस प्रकार रोडनी हिल्टन ने जोर दिया कि समानता और स्वतंत्रता के विचार के विकास के लिए मध्यकालीन किसानों को उचित महत्त्व दिया जाना चाहिए। जार्ज रूदे ने उनकी आलोचना की है जो शहरी दंगाइयों को एक पागल भीड़ मानते हैं। उनका कहना है कि प्रदर्शनकारियों में से एक बहुत बड़ी संख्या उन सम्मानित मजदूरों की होती है जिनके कार्य काफी तर्कपूर्ण होते हैं। इसी प्रकार ई पी टाम्सन ने अपने प्रसिद्ध लेख 'दि मॉरल इकोनॉमी ऑफ दि इंग्लिश क्राउड इन दि एट्टींथ सेंचुरी' (1971) ने इंग्लैंड में 18वीं शताब्दी में खाने के लिए दंगा करने वालों का पक्ष लिया और कहा कि उनका यह कदम 'स्पष्ट उद्देश्य के साथ किया गया एक अनुशासित और सीधी राजनीतिक कार्रवाई का एक बेहद जटिल स्वरूप' था। इससे पहले की अपनी एक महत्त्वपूर्ण कृति *दि मेकिंग ऑफ दि इंग्लिश वर्किंग क्लास* (1963) में उन्होंने और भी ज़्यादा जोरदार ढंग से जन-कार्रवाई के बारे में लिखा :

> 'मैं उन गरीब दुकानदारों, किसानों, पुराने पड़ चुके बुनकरों, अति-आदर्शवादी शिल्पियों और यहाँ तक कि जोआन्ना साउथकॉट के बहकावे में आ गये अनुयायियों को भावी पीढ़ी की विशाल सौजन्यता से छुटकारा दिलाना चाहता हूँ। हो सकता है कि उनके शिल्प और उनकी परंपराएँ पिछड़ेपन की शिकार दिखायी देती हों। हो सकता है कि सामूहिकता के उनके आदर्श कोरी कल्पनाएँ हों, हो सकता है कि विद्रोहकारी षडयंत्र उनकी मूर्खता हो। लेकिन उन्होंने जिस कठिन सामाजिक उथल पुथल के दौर में जिंदगी बितायी उससे हमारा साबका नहीं पड़ा। उनकी आकांक्षाएँ उनके खुद के अनुभव के संदर्भ में वाजिब थीं और अगर वे इतिहास द्वारा हताहत किये गये तो वे अपने खुद के जीवन में हताहत होने के लिए अभिशप्त थे।'

क्रिस्टोफर-हिल की पुस्तकों में भी गुम हो गये इन क्रांतिकारी उद्देश्यों का बचाव दिखायी देता है। हिल ने 17वीं शताब्दी के मध्य में ब्रिटेन की क्रांति को उभरते हुए पूँजीपति-वर्ग द्वारा अपने पक्ष पर जोर देना माना। उनके अनुसार इसने इंग्लैंड में आधुनिक समाज के उदय का सूत्रपात किया। लेकिन इस उथल पुथल में एक और निम्नवर्ग का तत्त्व था जिसे सफलता नहीं मिली। हिल का अनुरोध है कि इस पर और भी ज़्यादा सकारात्मक ढंग से विचार किया जाना चाहिए :

> 'हम संभवत: उन तमाम अनाम क्रांतिकारियों के प्रति थोड़ा आभार व्यक्त कर सकते हैं जिन्होंने हमारे इस आधुनिक विश्व के लिए नहीं बल्कि अपेक्षाकृत ज़्यादा आदर्श उद्देश्य को देखा और उसके लिए काम किया। एक ऐसी चीज के लिए जो इस दुनिया को उलट-पुलट कर दे, और जो उद्देश्य हासिल होना अभी बाकी है।'

विभिन्न समाजों में मौजूद वर्ग तनावों के अस्तित्व तथा परिवर्तन की प्रेरक शक्ति के रूप में वर्ग संघर्ष की भूमिका के प्रति अपने विश्वास को व्यक्त करते हुए मार्क्सवादी इतिहासकारों ने इस संदर्भ में विभिन्न क्रांतियों की व्याख्या की है। इस प्रकार लेफेब्रे, सोबोल और रूदे ने उभरते हुए पूँजीपति वर्ग द्वारा प्रदत्त नेतृत्व के संदर्भ में फ्रांसीसी क्रांति का विश्लेषण किया है। इसी प्रकार ब्रिटिश गृहयुद्ध की व्याख्या करते हुए क्रिस्टोफर हिल ने इसके पीछे उभरते हुए ब्रिटिश पूँजीपति

वर्ग की आकांक्षाओं को मुख्य कारण माना है। रोडनी हिल्टन ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि मध्ययुगीन समाज में भी बड़े भूस्वामियों और किसानों के बीच जबर्दस्त वर्ग संघर्ष जारी था।

मार्क्सवादी इतिहासकारों ने राज्य को भी एक 'वर्गीय राज्य' के रूप में देखा अर्थात ऐसा राज्य जो सत्ताधारी वर्ग का हो। उनके विचार से यह स्थिति उसी दिन से जारी है जिस दिन पहली बार राज्य का निर्माण हुआ। इसने प्रभुत्वकारी वर्गों के हितों की रक्षा की और इसका इस्तेमाल हमेशा निम्नवर्गों को अपने अधीन रखने के लिए किया गया। हिल्टन, हिल, एंडरसन, मिलीबांड, थेरबोर्न सबने इसी दृष्टिकोण को अपनाया। लेकिन ई पी टाम्सन का इस विचार से मतभेद है और उन्होंने अपनी यह राय रखी कि कानून को अलग ढंग से देखा जाना चाहिए। हालाँकि अंतत: यह सत्ताधारी वर्गों के हितों की ही सेवा करता है पर यह तटस्थ दिखायी देता है। उसके इस तटस्थ दिखायी देने को कभी कभार निम्नवर्गों द्वारा भी अपने खुद के आंदोलनों के लिए इस्तेमाल किया जा सकता है।

आमतौर पर मार्क्सवादी इतिहासकारों ने विचारधारा और धर्म को सत्ताधारी वर्गों के हितों के सेवक के रूप में देखा है लेकिन वे इस तरह के संबंध को यांत्रिक ढंग से नहीं देखते। इसलिए यद्यपि प्रोटेस्टेंट जैसे धर्मों ने अंतत: उभरते हुए पूँजीपतियों के हितों की सेवा की इसे एक ऐसी विचार प्रणाली के रूप में भी देखा जाना चाहिए 'जिसके लिए लोग मरने और मारने के लिए तैयार रहते थे।' लेकिन हिल का कहना है कि अंतिम विश्लेषण में 'प्योरिटिनिज्म (पवित्रतावाद) को समझने के लिए हमें शिल्पकारों, भद्र जनों, मंत्रियों और उनकी पत्नियों की जरूरतों, उम्मीदों, धैर्य और आकाक्षाओं को समझना चाहिए जिन्होंने इन सिद्धांतों को अपना समर्थन दिया... ऐसा लगता है कि वे स्वर्ग का रास्ता दिखाते थे क्योंकि इससे उन्हें पृथ्वी पर रहने में मदद मिलती थी।'

उनके प्रमुख योगदानों को सारांश रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है :

1) आर्थिक नियतिवाद और रूढ़ मार्क्सवाद के आधार-अधिरचना संबंधी मॉडल की आलोचना।
2) वर्ग निर्धारण के सिद्धांत के रूप में मार्क्सवाद का विकास।
3) इतिहास पर उत्पीड़ित वर्गों के नजरिये से जोर देना। अधीनस्थ वर्गों के अनुभव और एजेंसी को ऐसे दो महत्त्वपूर्ण श्रेणियों के रूप में जोर देना जो उनके कार्यों की गतिशीलता को समझें।
4) वस्तुपरकता को छोड़े बिना परंपरागत इतिहासकारों की तटस्थता का परित्याग करना।

15.5 पश्चिम के कुछ महत्त्वपूर्ण मार्क्सवादी इतिहासकार

इस खंड में हम पश्चिम के कुछ मार्क्सवादी इतिहासकारों द्वारा निजी तौर पर किए गए योगदान की चर्चा करेंगे जिनके लेखन में न केवल इतिहास संबंधी मार्क्सवादी सिद्धांत और व्यवहार को बल्कि आम तौर पर इतिहास-लेखन को नयी दिशा दी।

जॉर्ज लेफेबव्र (1874-1959)

मार्क्सवादी सामाजिक इतिहास के विकास में फ्रांसीसी इतिहासकार जार्ज लफेबव्र अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। फ्रांसीसी क्रांति पर किए गए काम के लिए उन्हें सबसे ज़्यादा जाना जाता है। उनकी पुस्तक *दि कमिंग ऑफ दि फ्रेंच रिवोल्यूशन* (फ्रेंच में 1939 में, अंग्रेजी में 1947 में) ने उन विचारों का सामान्य संश्लेषण प्रस्तुत किया जिसमें दलील की गयी थी कि क्रांति एक बुर्जुआ कृत्य है और यह इसलिए हुआ क्योंकि फ्रांस का अभिजात वर्ग 1787-88 में सुधारों का विरोध कर रहा था।

लेकिन लेफेबव्र का मुख्य योगदान फ्रांस के किसानों का अंतरंग अध्ययन है। उन्होंने क्रांति के साथ किसानों का संबंध जोड़ते हुए दलील दी कि यह बुनियादी तौर पर किसान क्रांति थी। फ्रांस

के किसान समुदाय के अपने परिमाणात्मक अध्ययन *दि पीजेण्ट्स ऑफ नार्दर्न फ्रांस ड्यूरिंग दि फ्रेंच रिवोल्यूशन* (1924) में उन्होंने किसान समाज और अर्थव्यवस्था की संरचना तथा क्रांति से ठीक पहले किसानों की मानसिकता का अध्ययन किया। सामंती बकायों, करों, चर्च की जमीन की बिक्री, धार्मिक आचार व्यवहार में परिवर्तनों और टेरर रेकॉर्ड्स से संबंधित अभिलेखागारों में रखे दस्तावेजों का अच्छी तरह अध्ययन के बाद लेफेबव्र ने कृषक समाज तथा क्रांति की अपील पर किसानों की प्रतिक्रिया के बीच भेद को जानने का प्रयास किया। इस अध्ययन के बाद उन्होंने एक महान कृति *दि ग्रेट फीयर ऑफ 1789* (1932) लिखी जिसमें 1789 के दौरान अभिजात्य वर्ग के काल्पनिक षडयंत्र के नतीजे के तौर पर किसानों के भय और उन्माद का चित्रण है।

लेफेबव्र *अनाल* स्कूल से भी कुछ हद तक संबद्ध थे जैसा कि उनके लेखों 'रिवोल्यूशनरी क्राउड्स' और 'दि मर्डर ऑफ काउंट ऑफ डैम्पियेरे (*स्टडीज ऑन दि फ्रेंच रिवोल्यूशन*, 1954 नामक संकलन में) से पता चलता है कि जिसमें उन्होंने किसानों की मानसिकता का पता लगाने के लिए किस्सागोई का इस्तेमाल किया है। इस प्रकार लेफेबव्र के योगदान का विस्तार परिमाणात्मक इतिहास से लेकर किसानों के मनोवृत्तियों के इतिहास तक तथा अस्तित्व के मनोवैज्ञानिक और सामाजिक पहलुओं तक है।

मौरिस डॉब (1900-1976)

डॉब सामाजिक इतिहासकार नहीं थे। बुनियादी तौर पर वह एक आर्थिक इतिहासकार थे लेकिन वह ऐसे व्यक्ति थे जिन्होंने हार्वे जे. केय के शब्दों में, 'आर्थिक इतिहास को अर्थशास्त्र से परे बढ़ाया। वस्तुतः वह बहुत सचेत ढंग से इस प्रयास में लगे थे कि आर्थिक इतिहास और विकास के अध्ययन का केंद्र बिंदु संकीर्ण अर्थवाद तक सीमित न रहकर व्यापक राजनीतिक-आर्थिक परिप्रेक्ष्य को भी समेटे।' निर्धारी कारक के रूप में राजनीतिक-आर्थिक कारण और वर्ग संघर्ष पर डॉब का जोर देना वह दिशा तय करने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है जो मार्क्सवादी सामाजिक इतिहास ने ब्रिटेन में ली।

डॉब ने अपनी महत्त्वपूर्ण कृति *स्टडीज इन दि डेवलपमेंट ऑफ कैपिटलिज़्म* (1946) में पूँजीवाद के उद्भव और विकास पर विचार किया है। उन्होंने हेनरी पिरेन की इस बात के लिए आलोचना की कि उन्होंने सामंतवाद के पतन के लिए बाहरी कारकों–मसलन मध्यकाल में वाणिज्य के विकास – को महत्त्वपूर्ण माना है। इसके विपरीत डॉब का तर्क था कि समाज विशेष की आतंरिक संरचना में ही परिवर्तन का गति विज्ञान स्थित होता है। इसके अलावा, डॉब ने इस बात पर जोर दिया कि किसी भी सामाजिक व्यवस्था की ही तरह सामंतवाद को भी उत्पादन के सामाजिक संबंधों के संदर्भ में परिभाषित किया जाना चाहिए।

जार्ज रुदे (1910-1993)

रुदे उन अत्यंत महत्त्वपूर्ण मार्क्सवादी इतिहासकारों में थे जिन्होंने निम्नवर्गीय इतिहास का मार्ग प्रशस्त किया। उनके शोध का प्रमुख विषय फ्रांस की क्रांति और इसमें जन भागीदारी से संबंधित था। अपनी पुस्तकों *दि क्राउड इन दि फ्रेंच रिवेल्यूशन* (1959), *दि क्राउड इन हिस्ट्री* (1964), *रिवोल्यूशनरी मोरोप : 1783-1815* (1969), *पेरिस एण्ड लंदन इन दि एटीन्थ सेंचुरी* (1970), *आइडियोलॉजी एण्ड पापुलर प्रोटेस्ट* (1980) और *दि फ्रेंच रिवोल्यूशन* (1989) में उन्होंने क्रांति की प्रकृति और इसमें साधारण जन की भागीदारी पर विस्तार से चर्चा की है। उन्होंने दलील दी कि क्रांतिकारी दंगों में जिन आम लोगों ने भाग लिया उन्हें विवेकहीन भीड़ न कह कर विचारशील लोगों के रूप में देखा जाना चाहिए जिनके दिमाग में कुछ खास उद्देश्य थे।

अल्बर्ट सोबूल (1914-1982)

सोबूल एक फ्रांसीसी इतिहासकार थे जिन्होंने फ्रांसीसी क्रांति के स्वरूप और कारणों पर चली बहसों में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। हालाँकि उन्होंने ऐसी किसी सामान्य व्याख्या को कि यह

क्रांति प्रत्यक्ष तौर पर पूँजीपति वर्ग के कारण हुई, नामंजूर किया पर समग्र रूप से इसके पूँजीवादी चरित्र को स्वीकार किया। अपनी पुस्तक *दि फ्रेंच रिवोल्यूशन* (फ्रेंच में 1962 में और अंग्रेजी में 1974 में प्रकाशित) में सोबूल इसे एक पूँजीवादी क्रांति चित्रित करने की परंपरागत मार्क्सवादी धारणा से सहमत थे – बावजूद इसके कि अल्फ्रेड कोबान ने 1955 में इस धारणा की आलोचना की थी।

जो भी हो, सामाजिक इतिहास के क्षेत्र में सोबूल का अत्यंत महत्त्वपूर्ण योगदान पेरिसवासी आम लोगों (साँ–कुलोत्ते) का अध्ययन है। ये वे लोग थे जिन्होंने इस क्रांति को इसके रेडिकल मुकाम तक पहुँचाया। सोबूल उन पहले लोगों में थे जिन्होंने इन लोगों की बनावट और भूमिका का समग्र रूप से अध्ययन किया। उन्होंने फ्रांस के किसानों और क्रांति में उनकी भूमिका पर भी लिखा।

रोडनी हिल्टन (1916-2002)

हिल्टन को मध्यकालीन यूरोप के महानतम इतिहासकारों में से एक माना जाता है। उनकी कृतियों ने मध्यकालीन यूरोप के किसानों के बारे में हमारी समझ को काफी समृद्ध किया है। अपनी महत्त्वपूर्ण पुस्तक *ए मेडिवल सोसायटी* (1967) में हिल्टन ने जोर दे कर कहा कि सामंती समाज को वर्गीय आधार पर परिभाषित किया जाना चाहिए एक ऐसे समाज के रूप में जो सामंती और उनके अधीनस्थ रह रहे किसानों से मिल कर बना है। चूँकि किसानों की अतिरिक्त उपज को सामंत हड़प जाते थे इसलिए उनके संबंधों में वर्ग–तनाव का तत्त्व हमेशा मौजूद रहता था। इस प्रकार, हिल्टन के अनुसार, सामंतवाद एक ऐसा समाज था जो वर्गीय आधार पर महज बँटा ही नहीं था बल्कि जहाँ निरंतर वर्ग संघर्ष जारी था।

अपनी पड़ताल की इस दिशा को उन्होंने *बाण्ड मेन मेड फ्री* (1973) में और विकसित किया और दलील दी कि मध्ययुगीन किसान सामंतों के लगातार बढ़ते शोषण का सामूहिक तौर पर प्रतिरोध करने में सक्षम थे। और यह वर्ग संघर्ष ही मध्ययुगीन समाजों में सामाजिक परिवर्तन का मुख्य कारण था।

हिल्टन ने सामाजिक–आर्थिक परिवर्तनों में किसान समुदाय की सक्रिय भूमिका पर जोर दिया। उन्होंने जो भी काम किया वह उन गैर मार्क्सवादी इतिहासकारों के एकदम विपरीत है जो परिवर्तन को किसी अमूर्त आर्थिक अथवा जनसंख्या संबंधी नियमों के फलस्वरूप घटित मानते हैं। इसमें किसानों की निष्क्रियतता की परंपरागत मार्क्सवादी धारणा में भी संशोधन किया गया है।

क्रिस्टोफर हिल (1912-2003)

हिल 17वीं शताब्दी के इंग्लैंड के इतिहासकार हैं। उनका अधिकांश लेखन 17वीं शताब्दी के इंग्लिश रिवोल्यूशन पर केंन्द्रित है। इस विषय पर लिखी उनकी कुछ प्रमुख पुस्तकें हैं– *इकानॉमिक प्राबलम्स ऑफ दि चर्च* (1956) *प्यूरिटनिज़्म* (1958), *दि सेंचुरी ऑफ रिवोल्यूशन* (1961), *सेवेंटीन्थ सेंचुरी इंग्लैंड* (1971), *दि वर्ल्ड टर्न्ड अपसाइड डाउन* (1972) और *चेन्ज ऐण्ड कांटिन्यूटी इन सेवेंटीन्थ सेंचुरी इंग्लैंड* (1974)। उनकी मुख्य थीसिस यह थी कि 17वीं शताब्दी के मध्य में हुआ इंग्लिश रिवोल्यूशन एक बुर्जुआ क्रांति थी और इसके फलस्वरूप पूँजीवाद का विकास हुआ। उनका इस क्रांति की उन व्याख्याओं से मतभेद था जिनमें इसे धार्मिक और संवैधानिक स्वतंत्रता के लिए हुए संघर्ष के रूप में चित्रित किया गया था। इसकी बजाय हिल का कहना था कि क्रांति को बुनियादी तौर पर वर्गीय संदर्भों में देखा जाना चाहिए जिसने पूँजीवादी क्रांति को सफल बनाया और जो इंग्लैंड के ऐतिहासिक विकास तथा इसकी विरासत के लिए अत्यंत निर्णायक था। तो भी, उन्होंने क्रांति के अंदर एक क्रांति की यानी विचारों के एक क्रांतिकारी उथल–पुथल की तलाश की जिसने 'औंधे खड़े विश्व को सीधा करने का' प्रयास किया।

हिल का महत्त्वपूर्ण योगदान विचारों के सामाजिक आधार का अन्वेषण करना था। हालाँकि उन्होंने ऐतिहासिक प्रक्रिया में विचारों को बहुत महत्त्वपूर्ण माना पर उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि सबसे महत्त्वपूर्ण वे संदर्भ हैं जिन्होंने इस तरह के विचारों को जन्म दिया। अपनी पुस्तक *इंटेलेक्चुअल ओरिजींस ऑफ दि इंग्लिश रिवोल्यूशन* की भूमिका में उन्होंने लिखा :

> 'व्यक्तियों के लिए विचार सबसे ज़्यादा महत्त्वपूर्ण होते हैं क्योंकि वे उन्हें कार्य के लिए प्रेरित करते हैं लेकिन इतिहासकारों को उन परिस्थितियों को भी समान महत्त्व देना चाहिए जिन्होंने इन विचारों को पैदा होने का अवसर दिया। क्रांतियाँ विचारों के बिना सम्पन्न नहीं होती लेकिन वे बुद्धिजीवियों द्वारा नहीं निर्मित की जाती। किसी रेल इंजन को चलाने के लिए भाप का होना अनिवार्य है लेकिन इस भाप से न तो कोई लोकोमोटिव इंजन बनाया जा सकता है और न उसके चलने का कोई स्थायी रास्ता...
>
> 'मुझे ऐसा लगता है कि चाहे वह लुथर का हो या रूसो का या खुद मार्क्स का – इतिहास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने वाला कोई भी विचारपुंज इसलिए आगे बढ़ता है क्योंकि वह समाज के उन महत्त्वपूर्ण समूहों की जरूरतों को पूरा करता है जहाँ से वह सामने आता है...'

ई.जे. हॉब्सबॉम (जन्म 1917)

हॉब्सबॉम आधुनिक युग के महानतम इतिहासकारों में से एक हैं। उनके लेखन का दायरा और परिमाण बहुत ज़्यादा है और इस दायरे के अंतर्गत उन्होंने किसानों के इतिहास, मजदूरों के इतिहास और विश्व इतिहास को समेटा है। एक तरफ तो उन्होंने *इंडस्ट्री एंड एम्पायर* (1968) में पूँजीवाद और साम्राज्यवाद के उद्भव पर लिखा है तो दूसरी तरफ *नेशंस एंड नेशनलिज्म सिंस 1780* (1992) और *इन्वेंशन ऑफ ट्रेडिशन* (टेरेंस रेंजर के साथ संपादित, 1983) में उन्होंने राष्ट्रवाद पर लिखा। इसी के साथ अपनी कुछ महत्त्वपूर्ण पुस्तकों मसलन *प्रीमिटीव रेबेल्स* (1959), *लेबरिंग मैन* (1964), *कैप्टन स्वींग* (जॉर्ज रूट के साथ, 1969), *बांडिट्स* (1969), और *वर्ल्ड्स ऑफ लेबर* (1984) में उन्होंने सामान्यजन के इतिहास पर बहुत विस्तार के साथ प्रकाश डाला है। विश्व इतिहास के क्षेत्र में हॉब्स बॉम ने जटिल किंतु बोधगम्य भाषा में *समग्र इतिहास* को चार खण्डों में संयोजित किया है – *दि एज ऑफ रिवोल्यूशन* (1962), *दि एज ऑफ कैपिटल* (1975), *दि एज ऑफ एम्पायर* (1987), और *दि एज ऑफ एक्सट्रिम्स* (1994)।

ई.पी. टॉमसन (1945-1993)

ई.पी. टॉमसन 1945 के बाद इंग्लैंड में सामाजिक इतिहास के अग्रदूतों में से एक थे। उनके लेखन ने लोक संस्कृति, श्रम, अपराध और प्रतिरोध के इतिहासों को एक नयी दिशा दी। विश्व के मार्क्सवादी इतिहासकारों में वह सबसे ज़्यादा जाने जाते थे और उनका बहुत प्रभाव था।

टॉमसन की सर्वाधिक चर्चित पुस्तक *दि मेकिंग ऑफ दि इंग्लिश वर्किंग क्लास* ने 1963 में प्रकाशन के बाद तुरंत एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक का दर्जा हासिल कर लिया। इसने श्रमिक आंदोलन के एक नए इतिहास को जन्म दिया जिसने मजदूर वर्ग के बारे में प्रचलित इस धारणा को नकारा गया था कि वे औद्योगिक और आर्थिक परिवर्तनों के निष्क्रिय प्राप्तकर्ता हैं। टॉमसन ने वर्ग को एक ऐसी आर्थिक श्रेणी के रूप में जिसे 'लगभग गणित की तरह परिभाषित कर दिया जाय' वाली परंपरागत मार्क्सवादी अवधारणा के खिलाफ दलील दी। उन्होंने यह बताने का प्रयास किया कि वर्ग एक ऐसी सक्रिय प्रक्रिया है जिसमें वह वाहक के साथ-साथ उसके चालक का भी काम करती है। टॉमसन का कहना था कि 'मजदूर वर्ग का उदय ऐसा नहीं हुआ जैसे किसी निश्चित समय पर सूर्य का उदय होता है। यह खुद-ब-खुद परिस्थितियों से उत्पन्न हुआ।' उनकी राय में वर्ग को किसी जड़ श्रेणी की तरह नहीं बल्कि एक ऐतिहासिक प्रक्रिया की तरह देखा जाना चाहिए :

'वर्ग को मैं एक ऐतिहासिक परिघटना के रूप में समझता हूँ... मैं वर्ग को न तो कोई ढाँचा मानता हूँ और न कोई श्रेणी बल्कि वह एक ऐसी घटना है जो मानव संबंधों में घटित हो जाती है और जिसे घटित होते दिखाया जा सकता है।'

वर्ग की इस गतिशील अवधारणा ने न केवल मार्क्सवादियों में सामाजिक इतिहास के व्यवहार में क्रांतिकारी परिवर्तन किया बल्कि गैर मार्क्सवादियों को भी इसने काफी प्रभावित किया। टॉमसन ने अन्य क्षेत्रों में जो काम किया मसलन शहरों में भोजन के सवाल पर दंगा करने वालों की नैतिक अर्थव्यवस्था 'पर जो ध्यान दिया और आम आदमी के नजरिए से इतिहास को देखने पर जो बल दिया उसने सामाजिक इतिहास को एक नयी दिशा भी दी।

युजीन डी जेनोवेज (जन्म 1930)

जेनोवेज अमेरिका के नव वामपंथी आंदोलन के एक महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व हैं और 1960 तथा 1970 के दशक में वह अमेरिका के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सामाजिक इतिहासकारों के रूप में सामने आए। दास प्रथा की अर्थव्यवस्था और 19वीं शताब्दी के अमेरिकी समाज की उनकी पुनर्व्याख्या काफी प्रभावशाली और विवादास्पद रही। उनकी महत्त्वपूर्ण कृतियाँ इस प्रकार हैं– *दि पोलिटीकल इकोनॉमी ऑफ सेलेवरी* (1965), *इन रेड ऐण्ड ब्लैक* (1968), *दि वर्ल्ड दि स्लेव होल्डर्स मेड* (1972), *रोल जॉर्डन रोल : दि वर्ल्ड दि स्लेव्स मेड* (1974), और *फ्राम रेबेलियन टू रिवोल्यूशन* (1979)। उन्होंने दक्षिण अमेरिका के दास समाज को पूर्व पूँजीवादी और पूर्व आधुनिक समाज के रूप में चित्रित किया। इसे 'क्रूर, अन्यायपूर्ण, शोषक, उत्पीड़क' बताते हुए जेनोवेज ने दलील दी कि यह 'ऐतिहासिक तौर पर एक ऐसा अजीबो-गरीब पितृसत्तात्मक समाज था जिसमें दास प्रथा ने अत्यंत शत्रुतापूर्ण संबंधों वाले दो व्यक्तियों को एक जगह रखा जबकि उनके बीच एक ऐसा जैविक संबंध स्थापित किया जो बेहद जटिल था और जो बिना दूसरे का संदर्भ दिए साधारण से साधारण मानवीय भावनाओं को अभिव्यक्त नहीं कर सकता था।'

इतिहास के व्यवहार के बारे में जेनोवेज का कहना था कि वस्तुपरक होने के साथ-साथ इतिहासकारों के अंदर एक पक्षधरता भी होनी चाहिए :

'हमारा यह मानना है कि इतिहास संबंधी सभी लेखन और उपदेश यानी सभी सांस्कृतिक कार्य निश्चित तौर पर एक राजनीतिक हस्तक्षेप है लेकिन वैचारिक आधार पर प्रेरित इतिहास एक बुरा इतिहास है और अंततः वह एक प्रतिक्रियावादी राजनीति है।'

रॉबर्ट ब्रेनर (जन्म 1943)

ब्रेनर पश्चिम के मार्क्सवादी इतिहासकारों में महत्त्वपूर्ण हैं। उन्होंने यूरोप में सामंतवाद के पतन के बारे में जनसंख्या आधारित सिद्धांतों पर प्रहार किया और इससे उन्हें काफी ख्याति मिली। अपने लेखों 'एग्रेरियन क्लास स्ट्रक्चर एंड इकोनॉमिक डेवलपमेंट इन प्री-इंडस्ट्रियल यूरोप' (1976) तथा 'दि ओरिजींस ऑफ कैपिटलिस्ट डेवलपमेंट : ए क्रेटिक ऑफ नियो स्मिथियन मार्क्ससिज्म', (1977) में उन्होंने उन इतिहासकारों पर प्रहार किया जिन्होंने यूरोप में सामंतवाद के पतन के लिए जनसंख्या तथा व्यापार एवं शहरीकरण को मुख्य कारक माना था। उनके हस्तक्षेप ने सामंतवाद के पतन और पूँजीवाद के उद्‌भव पर तीखी बहस को जन्म दिया। ब्रेनर ने 1982 में प्रकाशित अपने एक अन्य लेख 'दि एग्रेरियन रुट्स ऑफ योरोपियन कैपिटलिज़्म' में इस आलोचना का जवाब दिया। ब्रेनर ने दलील दी की वर्गीय ढाँचा और वर्ग शक्तियों का सापेक्षित संतुलन ही परिवर्तन के कारकों का नियामक होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि पश्चिमी यूरोप के किसान समुदाय की वह ताकत थी जिसने इसे जमींदारों के हमले का प्रतिरोध करने योग्य बनाया। दूसरी तरफ पूर्वी यूरोप के किसान समुदाय इस योग्य नहीं थे कि वे सामंतों के दबाव का सामना कर सके। इस प्रकार ब्रेनर ने किसी समाज में परिवर्तन के चालक के रूप में वर्ग संघर्ष के महत्त्व पर जोर दिया।

15.6 सारांश

उपरोक्त विमर्श में हमने देखा कि मार्क्स और ऐंगल्स की कृतियों में मौजूद इतिहास के सिद्धांत ने किस तरह दो दिशाएँ लीं। जबकि इसके एक रूप ने उत्पादक शक्तियों की भूमिका पर जोर दिया वहीं दूसरे रूप तथा इतिहास संबंधी उनके लेखन ने इतिहास की धारा निर्धारित करने में उत्पादन संबंधों और वर्ग संघर्ष की महत्त्वपूर्ण भूमिका पर जोर दिया। बाद के मार्क्सवादी इतिहासकारों ने और खास तौर पर मार्क्सवादी सामाजिक इतिहासकारों ने उनके लेखन के दूसरे रूप को स्वीकार किया। इसके अलावा उनमें से अनेक ने यह नहीं माना कि राजनीतिक और वैधानिक अधिरचना आर्थिक आधार का महज एक प्रतिबिम्ब है। उल्टे इन्होंने इसे बहुत महत्त्वपूर्ण मान लिया। एक अन्य स्तर पर एक इतिहासकारों ने इस बात को रेखांकित किया कि अपना खुद का इतिहास गढ़ने में आम आदमी की सक्रिय भूमिका है। इस संदर्भ में कहा जा सकता है कि सही अर्थों में उन्होंने जन इतिहास का पथ प्रदर्शन किया। इतिहास-लेखन के सिद्धांत और व्यवहार में उनका सामूहिक योगदान बहुत महत्त्व का है और इसने सारी दुनिया के इतिहास लेखकों के लिए एक नयी प्रवृत्ति का रास्ता दिखाया है।

15.7 अभ्यास

1) पश्चिमी मार्क्सवाद क्या है? इसके साथ जुड़े महत्त्वपूर्ण विचारक कौन हैं?

2) इतिहास की शास्त्रीय मार्क्सवादी व्याख्या की विभिन्न प्रवृत्तियों पर विचार करें। इसके किस पहलू को पश्चिमी मार्क्सवादी सामाजिक इतिहासकारों ने पसंद किया?

3) पश्चिम में मार्क्सवादी इतिहास-लेखन की मुख्य प्रवृत्तियाँ क्या हैं। कुछ महत्त्वपूर्ण मार्क्सवादी इतिहासकारों के बारे में संदर्भ सहित चर्चा करें।

15.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

पेरी एंडरसन, *कंशीडरेशसन्स ऑन वेस्टर्न मार्क्ससिज्म* (लंदन, एनएलबी, 1976, वर्सोह, 1979)

एस एच रिग्बी, *मार्क्ससिज्म एंड हिस्ट्री: ए क्रिटिकल इंट्रोडक्शन* (मैनचेस्टर और न्यूयार्क, मैनचेस्टर यूनिवर्सिटी, 1987, 1998)

एस एच रिग्बी, *'मार्क्ससिस्ट हिस्ट्रीयोग्राफी'*, माइकेल बेंटले द्वारा संपादित 'कंपेनियन टू हिस्ट्रीयोग्राफी' में शामिल (लंदन और न्यूयार्क, रूटलेज, 1997)

हार्वे जे के, *दि ब्रिटिश मार्क्सीस्ट हिस्टोरियंस : एंड इंट्रोडक्टरी एनालिसीस* (ऑक्सफोर्ड, पोलिटी प्रेस, 1984)

आर्थर मारविक, *दि नेचर ऑफ हिस्ट्री* (तीसरा संस्करण, पाल ग्रेब, न्यूयार्क, 1989)

जेरेमी ब्लैक और डोनाल्ड एम मैक रेल्ड, *स्टडींग हिस्ट्री* (हैम्पशायर और लंदन, मैकमिलन, 1997, 2000)

केली बायड (सम), *इनसोक्लोपीडिया ऑफ हिस्टोरियंस एंड हिस्टोरिकल राइटिंग* दो खंडों में (शिकागो, फिट्ज राय डीयर बार्ड पब्लिशर्स, 1999)

इकाई 16 उत्तर आधुनिकतावादी हस्तक्षेप

इकाई की रूपरेखा

16.1 प्रस्तावना

उत्तर आधुनिकतावाद आधुनिकता के खिलाफ एक प्रतिक्रिया है। सार रूप में कहें तो इसे आधुनिकतावाद विरोधी भी कहा जा सकता है। तो भी यह एक साधारण विरोध के अर्थ में एंटी मॉडर्न नहीं है। आधुनिकता और इसके परिणामों के साथ आलोचनात्मक जुड़ाव की एक लम्बी प्रक्रिया के जरिए इसका विकास हुआ है। हालाँकि आधुनिकता विरोधी परंपरा लगभग उतनी ही पुरानी है जितनी आधुनिकता की परंपरा, तो भी 1970 के दशक से उत्तर आधुनिक काल को काफी महत्त्व मिला है। उस समय से लेकर इन तीन दशकों के दौरान उत्तर आधुनिक विचारों का सारी दुनिया में प्रसार हुआ है। लेकिन इनका प्रभुत्व विकसित पश्चिमी जगत् में है। उत्तर आधुनिकतावाद के विचारकों ने उस दर्शन, संस्कृति और राजनीति की आलोचना की है और इस पर प्रहार किया है जिसे आधुनिकतावाद ने पैदा किया। दरअसल उत्तर आधुनिकतावाद ने खुद को आधुनिकतावाद के बरक्श खड़ा कर दिया है। इसलिए यह जानना बहुत महत्त्वपूर्ण है कि आधुनिक है क्या। इसको समझे बिना उत्तर आधुनिकतावाद को समझना संभव नहीं होगा।

16.2 आधुनिकतावादी परंपरा

यूरोप के देशों में आधुनिकता की प्रक्रिया पुनर्जागरण के आसपास शुरू हुई। इसका केन्द्र आधुनिक विज्ञान के उद्‌भव और विकास में था जिसने निश्चितता, सत्य, सटिकता, सामान्य सिद्धांतों और सार्वभौम नियमों की चाह स्थापित की। इसके महत्त्वपूर्ण औचित्य की उपलब्धि दकार्त जैसे दार्शनिकों के लेखन में, वाल्टेयर जैसे प्रबोधन युग के विचारकों में, माटेस्क्यू और दिदेरो में, कांट और हेगेल जैसे जर्मन दार्शनिकों में तथा अन्य अनेक विचारकों और

दर्शनशास्त्रियों में पाया जा सकता है। बताया जाता है कि आधुनिकतावाद ने यूरोप में सामंतवाद या मध्यकाल की पतन की शुरुआत की और एक ऐसे युग का सूत्रपात किया जहाँ तर्क को सर्वोपरि माना जाता था। दकार्त से लेकर प्रबोधन काल के बाद के आधुनिकतावाद दार्शनिकों और विचारकों से लेकर मार्क्स और वेबर सभी ने मध्यकालीन मूल्यों, विश्वासों और आस्थाओं की भर्त्सना की थी। हालाँकि मार्क्स जैसे उनमें से कुछ आधुनिकतावाद के भी आलोचक थे लेकिन इन सभी ने इसके अधिकांश मूल्यों और तौर तरीकों को स्वीकार किया। फ्रांस के एक समाजशास्त्री एलएन तुरेन का कहना है कि आधुनिकता की प्रमुख अवधारणा अतीत से पूरी तरह अपने को काट लेने की थी :

> 'आधुनिकता की सबसे शक्तिशाली पश्चिमी अवधारणा ने जिसका सबसे जबर्दस्त प्रभाव रहा, निश्चयपूर्वक इस बात पर जोर दिया कि तार्किकीकरण के लिए तथाकथित पारंपरिक सामाजिक बंधनों, भावनाओं, रीति-रिवाजों और विश्वासों का विध्वंस जरूरी है और आधुनिकीकरण का वाहक न तो कोई खास श्रेणी है या सामाजिक वर्ग बल्कि स्वयं तर्क...। पश्चिम ने...आधुनिकता को एक 'क्रांति' के रूप में समझा और इसे जिया।'

इस आधुनिकता के निर्माण में इतिहास सहित अन्य समाज विज्ञानों का घनिष्ठ संबंध है। हॉब्स, मांटेस्क्यू, वाल्टेयर, ह्यूम, एडम स्मिथ, बेकन जैसे महान विचारक इस आधुनिकता के उत्पादक और उत्पाद दोनों थे। उनके सिद्धांतों का इस्तेमाल नौकरशाही राज्य को केन्द्रीकृत बनाने और इसे वैध ठहराने के लिए, नयी संस्थाओं का निर्माण करने तथा समाज और अर्थव्यवस्था को नये तरीकों से ढालने के लिए किया गया।

आधुनिकता में जिन विभिन्न मूल्यों और विश्वासों को शामिल माना जा सकता है, वे इस प्रकार हैं :

1) आधुनिक विज्ञान और टेक्नालॉजी की सटीकता और उपयोगिता में विश्वास।

2) प्रबोधन के सिद्धांतों में विश्वास कि समाज को तर्क के मार्ग का अनुशरण करना चाहिए और सामाजिक मूल्यों को गढ़ने में मिथकों तथा धर्म की कोई भूमिका नहीं होनी चाहिए।

3) मानव इतिहास की रैखिक, प्रगतिशील और पारदर्शी दिशा में विश्वास।

4) विशिष्टता की तुलना में सार्वभौम सिद्धांतों पर ज़्यादा से ज़्यादा निर्भरता।

5) स्वायत्त तथा आत्म चेतन व्यक्ति में विश्वास जो अपने भाग्य का मालिक है।

6) इस बात में विश्वास कि आधुनिक विज्ञान और तर्क प्रकृति पर विजय पाएगा तथा समृद्धि, स्वतंत्रता और नश्वरता के भय से मुक्त जीवन प्रदान करेगा।

नए दार्शनिक सिद्धांतों के अलावा आधुनिकता ने जबर्दस्त आधुनिक शक्तियाँ भी पैदा की जिन्होंने 19वीं शताब्दी तक यूरोप में आधुनिक उद्योगों, पूँजीवाद और सामाजिक संबंधों की एक पूरी तरह नयी शृंखला को जन्म दिया। इस नए औद्योगिक समाज की खास बातें थीं शहरी करण, नौकरशाही का बढ़ना, व्यक्तिवाद, उपभोक्ताकरण, तर्कसंगतता और धर्मनिरपेक्षीकरण। 19वीं शताब्दी के मध्य तक आधुनिकता की प्रक्रिया ने पश्चिमी यूरोप और उत्तरी अमेरिका के मध्य काल के समाज और राजनीति को तथा उस समय की अर्थव्यवस्था को समाप्त करने की प्रक्रिया लगभग पूरी कर ली थी। इसके बाद इसने सर्वथा नयी आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था को जन्म दिया।

आधुनिकता ने जहाँ अभूतपूर्व प्रगति पैदा की वहीं इसने बड़े पैमाने पर तकलीफों की भी शुरुआत की। आधुनिक होने की प्रक्रिया में किसानों, मजदूरों और शिल्पियों को भयंकर कष्टों से होकर गुजरने के लिए मजबूर होना पड़ा। एशिया, अफ्रीका, लातिन अमेरिका और आस्ट्रेलिया के औपनिवेशिक क्षेत्रों को और भी ज़्यादा तकलीफों का सामना करना पड़ा जहाँ उपनिवेशवादी यूरोप ने स्थानीय लोगों का सफाया कर दिया, उनकी जमीनें हड़प लीं और अपने खुद के फायदे के लिए उनकी अर्थव्यवस्था पर कब्जा कर लिया। इस साम्राज्यवादी अभियान ने औपनिवेशिक क्षेत्रों में हजारों लाखों लोगों को मौत के घाट उतार दिए, उनकी संस्कृतियों और परंपराओं में बड़े पैमाने पर विकृतियाँ ला दी और उनके संसाधनों पर भारी बोझ लाद दिया।

16.3 उत्तर आधुनिकतावाद क्या है?

उत्तर आधुनिकतावाद और उत्तर आधुनिकता दोनों शब्दावलियों का इस्तेमाल कभी-कभी एक दूसरे के पर्यायवाची की तरह कर दिया जाता है। सच्चाई यह है कि दोनों के अलग-अलग अर्थ हैं हालाँकि ये अर्थ एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। उत्तर आधुनिकता शब्द का इस्तेमाल जहाँ समकालीन विकसित समाजों के अस्तित्व की सामाजिक स्थितियों और इन समाजों की अर्थव्यवस्था के चित्रण के लिए किया जाता है। वहीं उत्तर आधुनिकतावाद से तात्पर्य उस दर्शन से है जो आधुनिकता के दर्शन के बाद और इसके विपरीत पैदा हुआ है। नीचे के उपखण्डों में हम उत्तर आधुनिकता की अवधारणाओं, उत्तर आधुनिकतावाद शब्दावली के इतिहास और अंतत: उत्तर आधुनिकतावाद से संबद्ध बुनियादी अवधारणाओं पर विचार करेंगे।

16.3.1 उत्तर आधुनिकता

कुछ लोगों, खास तौर पर उत्तर आधुनिकतावादियों का यह विश्वास है कि हम आधुनिकता से परे जा चुके हैं और जिस युग में रह रहे हैं वह उत्तर आधुनिक युग है। इतिहास के एक प्रमुख उत्तर आधुनिक सिद्धांतकार किथ जेनकिन्स ने ऐलान किया कि :

> 'आज हम उत्तर आधुनिकता की सामान्य स्थितियों में रह रहे हैं। इस सिलसिले में हमारे पास और कोई चारा नहीं है। इसकी वजह यह है कि उत्तर आधुनिकता कोई 'विचारधारा' अथवा अवस्थिति नहीं है जिसे हम अपनी पसंद के अनुसार चुने अथवा न चुने बल्कि यह एक अवस्था है : यह हमारी नियति है।'

उत्तर आधुनिकतावाद के एक उदार आलोचक फ्रेडरिक जेम्सन का भी यही मानना है कि उत्तर आधुनिकतावाद एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है जो पूँजीवाद की प्रकृति में क्रांतिकारी परिवर्तन के जरिए शुरू की गयी। अपनी एक प्रसिद्ध पुस्तक में उन्होंने उत्तर आधुनिकतावाद को 'विलंबित पूँजीवाद का सांस्कृतिक तर्क' कहा है।

नए समाज के जन्म के बारे में इस अवधारणा को आधार बनाते हुए अनेक विचारकों ने दलील दी है कि इसकी वजह से हमारी ज्ञान प्रणाली में परिवर्तन आया है। इस प्रकार फ्रांस के विचारक ज्याँ फ्रांसुआ ल्योतार्द ने, जिन्होंने उत्तर आधुनिकतावाद शब्द को लोकप्रिय बनाया, कहा है कि 'जैसे ही समाज उत्तर औद्योगिक काल में प्रवेश करता है ज्ञान का स्तर पलट जाता है और संस्कृति का उस क्षेत्र में प्रवेश हो जाता है जिसे हम उत्तर आधुनिक युग के रूप में जानते हैं।'

उत्तर आधुनिकता शब्दावली के इस्तेमाल में बुनियादी तौर पर हमारा जोर सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र पर होता है। इसमें निहित है कि आधुनिकता का समापन हो चुका है और इसमें इस बात पर जोर दिया जाता है कि एक ऐसी नयी सूचना और संचार प्रौद्योगिकी का जन्म हो रहा है जो

वैश्वीकरण और उपभोक्तावाद के जबर्दस्त विकास की तरफ हमें ले जा रही है। इस रूपांतरण के सिद्धांतकारों ने दावा किया है कि जिस प्रकार अतीत में भूमि पर आधारित कृषि प्रधान सामाजों का स्थान कारखानों पर आधारित औद्योगिक समाजों ने ले लिया उसी प्रकार औद्योगिक समाजों का स्थान अब उत्तर औद्योगिक विश्व लेने जा रहा है जिसमें सेवा क्षेत्र (सर्विस सेक्टर) का महत्त्व सर्वोपरि होगा।

डैनियल बेल वह व्यक्ति थे जिन्होंने अपनी पुस्तक *दि कमिंग ऑफ पोस्ट इंडस्ट्रियल सोसायटी* में एक ऐसे नए तरह के समाज के आगमन के बारे में लिखा जो पिछले औद्योगिक समाज से अलगाव का प्रतिनिधित्व करता हो। उनके विचार से पुराने किस्म के 'कारखाना मजदूर' का स्थान सेवा क्षेत्र के इन नए पेशेवर लोगों ने ले लिया है। इसी के साथ पुरानी शैली की मशीनों का स्थान सूचना और संचार की नयी प्रौद्योगिकी ने ले लिया है। फोर्ड के कारखाने में असेम्बुल करके गाड़ी बनाने की बात अब अतीत की कहानी हो गयी है और आज उत्पादन तथा निर्माण का पूरी तरह विकेन्द्रीकरण हो चुका है। इसके अलावा आज प्रबंधन और रोजगार में पहले की तुलना में कहीं ज़्यादा लचीलापन मौजूद है।

16.3.2 इस शब्दावली का इतिहास

उत्तर आधुनिक शब्दावली का एक लम्बा अतीत है और यह अनेक संदर्भों में इस्तेमाल किया गया है। लेकिन जैसा कि इस शब्दावली से खुद भी पता चलता है, इसका इस्तेमाल आम तौर पर आधुनिकता को पार कर जाने के अर्थ में किया जाता है। काफी पहले 1870 में एक अंग्रेज चित्रकार जे.डब्ल्यू. चैपमैन ने अपने उन चित्रों के लिए 'उत्तर आधुनिक' शब्दावली का इस्तेमाल किया जो प्रकट रूप से फ्रांस के प्रभाववादी चित्रों के मुकाबले ज़्यादा आधुनिक थे। बाद में 1917 में रूडोल्फ पानविज ने इस शब्दावली का इस्तेमाल यूरोपीय संस्कृति में नाशवादी (निहिलिस्ट) प्रवृत्तियों के लिए किया था। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद की अवधि में ओरनाल्ड टायनबी (1889-1975) ने अपनी शानदार पुस्तक *ए स्टडी ऑफ हिस्ट्री* (1934-61) में इस शब्दावली का इस्तेमाल 1875 के आसपास यूरोपीय समाज और संस्कृति में रूपांतरण दिखाने के लिए किया था। उन्होंने इस 'उत्तर आधुनिक काल' को पहले के आधुनिक काल (जो मध्य युग के बाद आया था) को अलग होने के रूप में चित्रित किया है। उनके विचार से पश्चिमी इतिहास के इस दौर को क्रांतियों, युद्धों और सामाजिक राजनीतिक उथल-पुथल के दौर के रूप में चित्रित किया जा सकता है। उनका कहना है कि इस उत्तर आधुनिक काल में तर्कसंगतता, स्थिरता और प्रबोधन काल के मूल्यों का विघटन हुआ जो 1875 तक आधुनिक युग की विशिष्टता समझे जाते थे।

अमेरिका में उत्तर आधुनिक युग के विचार को 1950 के दशक से अभिव्यक्ति मिली। इतिहासकार बर्नार्ड रोजनबर्ग, अर्थशास्त्री पीटर ड्रूकर और समाज शास्त्री सी.राइट मिल्स ने उत्तर आधुनिकता के विचार को अपने-अपने तरीके से परिभाषित किया। रोजनबर्ग ने जहाँ इसका संबंध जन समाज के उभार से जोड़ा ड्रूकर ने इसे उत्तर औद्योगिक समाज के रूप में चिन्हित किया और मिल्स के अनुसार उत्तर आधुनिक काल वह है जिसमें स्वतंत्रता पर नियंत्रण लग जाता है और रोबोट की तरह का समाज अस्तित्व में आ जाता है।

लेकिन 1970 के दशक के बाद से इस शब्दावली के इस्तेमाल आधुनिकता की विरासत की आलोचना करने और इस पर आक्रमण करने के लिए किया जाता है। इस काम में पहले फ्रांस के सिद्धांतकारों ने और बाद में अमेरिकी विद्वानों ने बढ़-चढ़कर भाग लिया। इन लोगों ने जिन सिद्धांतों की रचना की उससे एक नए उत्तर आधुनिक दर्शन की शुरुआत हुई जो विश्व के अनेक हिस्सों तक फैला।

16.3.3 मुख्य अवधारणाएँ

आधुनिकता के सिद्धांतों की ही तरह, उत्तर आधुनिकतावाद का कोई एकीकृत सिद्धांत नहीं है। अगर कुछ है भी तो स्थिति और भी बिखरी-बिखरी तथा अस्त-व्यस्त है। इसका दायरा बहुत विस्तृत है और इसके अंतर्गत आधुनिकता की हल्की-फुल्की आलोचना से लेकर इसे पूरी तरह नकारने की प्रवृत्ति आ जाती है। वे महत्त्वपूर्ण विचारक जिनके कृतित्व ने उत्तर आधुनिकतावाद को सूत्रबद्ध किया, उनके नाम हैं– फूको, देरिदा, ल्योतार्द, बौद्रिआ, देलेज, ग्वातारी, व्हाइट और रोर्ती। इनकी कृतियों ने आधुनिकता के आख्यानों के समक्ष गंभीर चुनौती पैदा की और इनके सिद्धांतों ने आधुनिकता द्वारा तर्क को केन्द्र में रखते हुए ज्ञान की जो बुनियादी आधारशिलाएँ रखीं, उन पर प्रहार किया। उनकी आलोचना के निशाने पर था पूँजीवाद, ऐतिहासिकतावाद, मानवतावाद, वैज्ञानिकतावाद और तर्कवाद जिनसे आधुनिक विश्व निर्मित हैं।

उत्तर आधुनिकतावाद ने सार्वभौम ज्ञान के लिए प्रबोधन समर्थक दार्शनिकों के दावों पर सवाल खड़ा किया। इसने ज्ञान के आधार की खोज की भी आलोचना की। आधुनिकता ने विराट आख्यानों को जन्म दिया अर्थात सब कुछ को समेटने वाले सिद्धांतों को जन्म दिया जिसका मकसद एक-एक चीज की व्याख्या करना था जो उसके दायरे में आती थी। उत्तर आधुनिकतावाद इस तरह के विराट आख्यानों को खारिज करता है और सबको समेटने वाली विचार धाराओं पर प्रहार करता है।

दूसरी बात यह कि उत्तर आधुनिकतावाद सत्य को हासिल करने के विज्ञान के दावों पर से परदा उठाता है। उत्तर आधुनिकतावाद किसी को पूर्ण नहीं मानता और उसका झुकाव सापेक्षतावाद – कभी-कभी पूर्ण सापेक्षतावाद की तरफ होता है। इसके अलावा यह तथ्यों और विश्व का प्रतिनिधित्व करने के मानव और समाज विज्ञानों के दावों को खारिज करता है। उत्तर आधुनिक सिद्धांतकारों की राय में कोई भी ऐसा सत्य नहीं है जो यथार्थ का और मानव समुदाय के लिए विश्व का निर्माण करती है। इसलिए सत्य की ऐसी कोई खोज बेमानी होगी जो भाषा से परे हो और यह भाषा व्यक्तिगत तथा स्थानीय संस्कृतियों से अनुकूलित होती है।

तीसरे, उत्तर आधुनिकतावाद विश्व के आधुनिकतावादी संगठन तथा ज्ञान के आधारी स्वरूप पर भी प्रहार करता है। उत्तर आधुनिकतावादियों के अनुसार आधुनिकतावादी परंपरा ने कुछ प्रमुख द्विआधारों के इर्द-गिर्द ज्ञान को व्यवस्थित करने की कोशिश की जिसमें विज्ञान साझा रूप से इसके केंद्र में था – विज्ञान बनाम शब्दाडंबर (rhetoric), विज्ञान बनाम साहित्य, विज्ञान बनाम आख्यान। वास्तविक ज्ञान का प्रतिनिधित्व कर रहा था जबकि इस द्विआधार का दूसरा पक्ष कल्पना और झूठी चेतना से संबद्ध था। इसने द्विआधारों के कुछ और सेट भी तैयार किए। तथ्य बनाम गल्प,सत्य बनाम कल्पना, विज्ञान बनाम जादू, पुल्लिंग बनाम स्त्रीलिंग द्विआधारी विलोम हैं जिन्हें आधुनिकता के सिद्धांतकारों ने रुढ़ बनाया। इन द्विआधारों में दूसरा पद लगभग हमेशा हीन स्थिति में रहा। उत्तर आधुनिकतावाद ने द्विआधारों पर आधारित इस ज्ञान को हमेशा चुनौती दी। और बदले में बहुलताओं, विविधताओं और विभेदों पर जोर दिया। स्टीव सेडमान ने उत्तर आधुनिकता की पश्चिमी अवधारणा की रूपरेखा इस प्रकार प्रस्तुत की है :

> 'जैसे-जैसे हम दूसरी सहस्राब्दि की समाप्ति की ओर बढ़ते हैं, हम पश्चिम के लोग उत्तर आधुनिक संस्कृति क्षेत्र में प्रवेश कर जाते हैं। यह ऐसी संस्कृति हैं जिसमें ज्ञान अनेक ज्ञानों का रूप ले लेता है, अस्मिताएँ विभंजित, बहुल और छिद्रिल (पोरस) होती हैं और समाज तथा राजनीति का कोई नियत केंद्र नहीं होता।'

डेविड हार्वे ने अपनी पुस्तक *दि कंडीशन ऑफ पोस्टमाडर्निटी* (1989) में आधुनिकतावाद और उत्तर आधुनिकतावाद की विभिन्न विशिष्टताओं को सारांश रूप में प्रस्तुत किया है जो एक दूसरे के विपरीत हैं। इन्हें निम्नांकित तालिकाओं में दिया गया है।

आधुनिकतावाद	उत्तर आधुनिकतावाद
अभिजनवाद, क्लोजर,	जनप्रिय उपभोक्तावाद, लचीलापन,
निरंकुशता और सोशल इंजीनियरिंग	चयन, खुलापन, अवसर
उच्च संस्कृति और परंपरा, गूढ़ता	लोक संस्कृति और अवकाश तथा संस्कृति का पण्यीकरण, 'श्रद्धाहीन मिश्रगीत', 'कृत्रिम गहनशून्यता'
मितव्ययिता और अनुशासन	मौजमस्ती, खुदवाद
निश्चित अर्थ, केंद्र, परम कानून और सत्य	सापेक्षता, अनिश्चयता, आपातस्थिति, होने का आभास, विकेंद्रिता, जीवन इतिहास
समग्रता	व्यक्तिवाद
नियोजन	प्रयोगधर्मिता, उपयोगितावाद
एकरूपता	अनेकरूपता
सिग्नीफाइड (संकेतित)	सिग्नीफायर (संकेतक)
निश्चितता, एकात्मक ढाँचा,	संदेहवाद, विखंडन, असंगत यथार्थ
वर्ग और प्रणालियाँ, संश्लेषण, बाह्यता (अर्थात् यथार्थ 'जो बाहर है')	

16.4 उत्तर आधुनिकतावाद के विचारक

इस खंड में हम उन दार्शनिकों और विचारकों की चर्चा करेंगे जिन्होंने उत्तर आधुनिकतवाद के विचार को आकार दिया। इनमें वे प्रारंभिक दार्शनिक भी होंगे जिनके विचारों ने अभी हाल के विचारकों को काफी प्रभावित किया तथा वे लोग भी होंगे जिन्होंने 1960 के दशक के बाद उत्तर आधुनिकतावाद के सिद्धांत को और भी मजबूत किया।

16.4.1 पूर्ववर्ती विचारक

आधुनिकता के आलोचक भी लगभग उतने ही पुराने हैं जितनी पुरानी आधुनिकता की अवधारणा। चूंकि आधुनिकता ने पूर्ण दार्शनिक अभिव्यक्ति प्रबोधन काल और उत्तर प्रबोधन काल के दर्शनों के दौरान प्राप्त की, उनकी चुनौतियाँ भी लगभग उन्हीं दिनों में सामने आयीं। जिस समय वाल्टेयर प्रबोधन काल की नींव रख रहे थे जो परंपरा की विरुद्ध खड़ी थीं और तर्क की श्रेष्ठता के पक्ष में दलील दे रहे थे, रूसो ने उन दिनों 'सांस्कृतिक आदिमवाद' और 'प्राकृतिक व्यवस्था' के पक्ष में आवाज उठायी।

इसके कुछ ही समय बाद रोमांटिक समर्थक लोगों ने तर्कवाद, विज्ञानवाद, सार्वभौमवाद और समग्रवाद पर प्रबोधनवादियों के अतिरिक्त बल देने के खिलाफ आवाज बुलंद की। उन्होंने इसके बदले अराजक, परंपरागत, प्राकृतिक, व्यक्तिगत और रहस्यमय के पक्ष में दलीलें पेश कीं। आधुनिकता के खिलाफ उनके विद्रोह ने हर्डर, ग्रीम बंधुओं तथा अन्य अनेक रोमांटिकवादियों को परंपरागत लोक संस्कृति के क्षेत्र में अनुसंधान के लिए प्रेरित किया।

लेकिन अगर किसी एक व्यक्ति का नाम लेना हो तो उत्तर आधुनिकता का पूर्वानुमान लगाने वाला जो सबसे महत्त्वपूर्ण विचारक था वह था जर्मन दार्शनिक फ्रेडरिक नीत्शे (1844–1900)। नीत्शे

आधुनिकता की आलोचना के मामले में रोमांटिक समर्थकों से सहमत तो थे लेकिन जहाँ तक इसके समाधान का सरोकार था वे उनसे बराबर असहमत रहे। रोमांटिकों ने प्रकृति, परंपरा और धर्म में शांति की तलाश की जिससे नीत्शे कभी सहमत नहीं हो सके। उनका कहना था कि आधुनिक व्यक्ति ज्ञान और स्वतंत्रता में इस हद तक डूब चुका है कि वह प्रकृति और परंपरा की तरफ नहीं लौट सकता। इसलिए रोमांटिकों का यह विकल्प कि प्रकृति की तरफ लौट जाया जाय, एक व्यर्थ का विचार था।

नीत्शे के जिन मुख्य विचारों से उत्तर आधुनिकतावादी अपना तादात्म्य में महसूस करते हैं उनका संबंध नीत्शे द्वारा आधुनिकता के सिद्धांतों पर यानी तर्क, विज्ञानवाद, सत्य, अर्थ और सार्वभौमिकता पर किया गया हमला है। नीत्शे ने पश्चिमी तर्कवाद की परंपरा की और सत्य के प्रति इसके दावे की तीखी आलोचना की जिसकी शुरुआत प्लेटो से होती है। नीत्शे के विचार से सत्य को प्राप्त करने का समूचा दावा सत्ता और प्रभुत्व प्राप्त करने की आकांक्षा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। उनका मानना था कि मानव इतिहास अर्थवाद, उद्देश्यपूर्ण और भविष्य बताने योग्य नहीं है और इसे ऐसा होना भी नहीं चाहिए। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि अनिश्चितता मानव स्थितियों की एक खास विशिष्टता है। उन्होंने 'ईश्वर की मृत्यु' और धर्म के अवसान की घोषणा भी की और कहा कि नैतिकता और सत्य को प्राप्त करना असंभव है।

इस परंपरा के दूसरे विचारक थे मार्टिन हाइडेगर (1889-1976) जो एक जर्मन दार्शनिक थे। उन्हें 20वीं शताब्दी के अत्यंत महत्त्वपूर्ण विचारकों में माना जाता है। वह ऐतिहासिकता के विरोधी थे और उन्होंने विज्ञान के रूप में इतिहास की अवधारणा से इनकार किया और प्रगति के इसके दृष्टिकोण को खारिज किया। तर्कशीलता, विज्ञान और टेक्नालोजी के प्रति भी उनके भीतर एक वैर भाव था। उनका मानना था कि आधुनिक टेक्नालोजी ने मनुष्य को पूरी तरह दास बना दिया है। अपनी अत्यंत महत्त्वपूर्ण पुस्तक *बीइंग एंड टाइम* में हाइडेगर ने अस्तित्ववादी और परिघटनावादी दृष्टिकोणों को मिलाकर 'होने' की जाँच पड़ताल की। उनके अनुसार आधुनिकता का संकट मनुष्य द्वारा ब्रम्हाण्ड के केन्द्र में ईश्वर के स्थान पर मनुष्य को रखने से पैदा हुआ है। उनके अनुसार सुकरात के समय से लेकर अब तक की समूची पश्चिमी दार्शनिक परंपरा आधिभौतिकवादी थी। यहाँ हाइडेगर ने 'आधिभौतिकवाद' (सामान्य तौर पर जिसका अर्थ होता है 'ज्ञानेन्द्रियों के सहज क्षेत्र से परे') के प्रचलित अर्थ को उलट दिया। उनकी राय में पश्चिमी तर्कशास्त्री परंपरा ऐसे विश्व की संभावना से इनकार करता है जो ज्ञानेन्द्रियों से महसूस किये जाने वाले ठोस जगत से परे हो। उनका मानना था कि समकालीन विचार में नास्तिवाद है जो सुकरात के तर्क बुद्धिवाद से उपजा है। यह सामान्य तौर पर स्वीकार्य दृष्टिकोण रहा है कि विज्ञान और प्रौद्योगिकी आधिभौतिकवाद के विरोधी हैं और यह जहाँ आधिभौतिकवाद का सरोकार विश्व की उन चीजों से है जो हमारी सहज ज्ञानेन्द्रियों से परे हैं वहीं विज्ञान और प्रौद्योगिकी ठोस जगत की चीजों से सरोकार रखते हैं। लेकिन हाइडेगर की अजीबोगरीब परिभाषा में आधुनिक प्रौद्योगिकी को आधिभौतिकवाद का सर्वोच्चमूर्तिवान रूप माना गया क्योंकि यह भविष्यवाणी कर सकता है, इसका किसी भी तरह परिचालन कर सकता है और दुनिया का रूपांतरण कर सकता है।

नीत्शे और हाइडेगर दोनों ने आधुनिकतावादी परंपरा पर क्रांतिकारी ढंग से प्रश्न चिन्ह लगाया और दार्शनिक तौर पर उत्तर आधुनिकतावाद के लिए जमीन तैयार की। इन्होंने असीमित प्रतिस्पर्धा तथा प्रभुत्व की आकांक्षा की आलोचना की जो आधुनिकता की उपज है और यह दिखाया कि इस बात की जबर्दस्त संभावना है कि आधुनिकता के लिए अथक अभियान बर्बर, अमानवीय और नकारवादी हो सकता है।

तो भी उत्तर आधुनिकवादी जिन बातों पर पर्याप्त ध्यान नहीं देते या जिनकी अवहेलना करते हैं वे इन दोनों विचारकों की अभिजात और श्रेणीबद्ध प्रवृत्तियाँ हैं। नीत्शे प्रबोधनकाल के विचारों के समतावाद की भर्त्सना करता था और अपने समय की जनआधारित जनतांत्रिक समाजों से घृणा

करता था। उसका मानना था कि जनतांत्रिक यूरोप 'अत्याचारियों के लिए अनैक्षिक तौर पर पनपने की धरती' है। उसको एक ऐसे यूरोपीय अभिजात वर्ग की उम्मीद थी जो दार्शनिकों की सलाह पर ध्यान देगा। इसी प्रकार हाइडेगर ने नाजियों और हिटलर का समर्थन किया और वह खुद भी नाजी पार्टी का सदस्य था।

16.4.2 उत्तर आधुनिकतावाद के विचारक

उत्तर आधुनिकतावाद से जुड़े अनेक विचारक हैं। लेकिन इस खंड में हम विचार के लिए कुछ अत्यंत महत्त्वपूर्ण विचारकों के विचार को ही शामिल करेंगे।

मिशेल फूको (1926-1984): फ्रांसीसी दार्शिनिक फूको एक जटिल विचारक था जिसके विचारों के दायरे में विभिन्न विषय और तरह तरह के विचार आते हैं। तो भी उसे एक उत्तर आधुनिक विचारक के रूप में स्थान प्राप्त है क्योंकि वह प्रबोधन संबंधी विचारों और आधुनिकता का जबर्दस्त आलोचक था। उसके लेखन ने मानव विज्ञान और समाज विज्ञान को काफी प्रभावित किया और यह प्रभाव अभी भी जारी है। उसके कार्यों का विभिन्न विषयों के संदर्भ में मसलन इतिहास, संस्कृति संबंधी अध्ययन, दर्शनशास्त्र, समाजशास्त्र, साहित्य सिद्धांत और शिक्षा में उल्लेख किया जाता है। वह विभिन्न सामाजिक संस्थानों की आलोचना के लिए जिसे वह यूरोपीय आधुनिकता का उत्पाद समझता था, प्रसिद्ध है। मनोचिकित्सा, चिकित्सा विज्ञान और जेलों जैसी संस्थाओं और क्षेत्रों ने उसकी काफी आलोचनाएँ झेलीं। इन पर काम करने के अलावा उसे इस बात के लिए भी काफी ख्याति मिली कि सत्ता तथा सत्ता और ज्ञान के बीच उसने सामान्य सिद्धांतों पर काम किया और साथ ही पश्चिमी विचारों के इतिहास के संदर्भ में उसने जो 'विमर्श' प्रस्तुत किया वह भी काफी उल्लेखनीय है। अपने बाद के जीवन में उसने यौन सबंधी इतिहास पर भी काम किया। फूको ने कुछ महत्त्वपूर्ण पुस्तकों के जरिए आपने विचारों को अभिव्यक्ति दी ये पुस्तकें हैं– *मैडनेस एण्ड सिविलाइजेशन* (1961), *दि बर्थ ऑफ दि क्लीनिक* (1963), *दि आर्डर ऑफ थिंग्स* (1966), *दि आर्कियोलॉजी ऑफ नॉलेज* (1969), *डिसिपलिन एण्ड पनिश : दि बर्थ ऑफ दि प्रिजन* (1975), और *दि हिस्ट्री ऑफ सेक्सुअलिटी* (1976-1986)।

फूको का लेखन अधिकांशतः ऐतिहासिक संदर्भों में किया गया है लेकिन वह इतिहास में समग्रता और निरंतरता की धारणा को हतोत्साहित करता है। इसकी बजाय उन्होंने अनिरंतरता के विचार को बढ़ावा दिया है। इस प्रकार उनके लिए इतिहास निरंतरता और एककेंद्रता नहीं है और इतिहास का सार्वभौमीकरण भी नहीं किया जा सकता। इतिहास और समाज के बारे में फूको के विचार पुरातत्त्वज्ञान से लेकर वंशावली की अवधारणा तक विकसित होता है। लेकिन अपनी समूची कृतियों में उसने विभेद के विचार पर जोर दिया है। इसके अलावा वह प्रबोधन के इस विचार को खारिज करता है कि तर्कवाद के नियम को मुक्ति और प्रगति की बराबरी में रखा जा सकता है। उसका कहना है कि मुक्तिदायी शक्ति के रूप में काम करने की बजाय ज्ञान सत्ता पर केन्द्रित होता है और आधुनिक युग में प्रभुत्व के नये नये स्वरूपों के निर्माण में सहायक होता है। इस प्रकार वह ज्ञान और सत्ता को पृथक करने के प्रयासों की आलोचना करता है और इस बात पर बल देता है कि ज्ञान की तलाश, खासतौर पर आधुनिक युग में, सत्ता की तलाश तथा प्रभुत्व की लालसा के साथ घनिष्ठ रूप से जुड़ी हुई है। संक्षेप में कहें तो उसके विचारों को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है :

1) इतिहास या समाज एककेंद्रीय नहीं बल्कि विकेंद्रित है।

2) विमर्श विषय का निर्माण करते हैं; विषय विमर्शों के जन्मदाता नहीं हैं। इसके बदले विमर्शों का जन्म संस्थागत व्यवहारों से होता है।

3) ज्ञान तटस्थ नहीं होता बल्कि यह सत्ता और प्रभुत्व की पद्धति के साथ घनिष्ठ रूप से जुड़ा होता है।

जैक देरिदा (1930-2004): एक अन्य फ्रांसीसी दार्शनिक देरिदा उत्तर आधुनिक सिद्धांत के विकास में और खासतौर पर इसे 'भाषायी मोड़' देने में अत्यंत महत्त्वपूर्ण साबित हुए हैं। उत्तर संरचनात्मक और उत्तरआधुनिक विचारों के विकास में देरिदा का बुनियादी योगदान उनका विखंडन का सिद्धांत है। यह सभी लिखित पाठों को जटिल सांस्कृतिक प्रक्रियाओं का उत्पाद मानता है। इसके अलावा इन पाठों को अन्य पाठों तथा लेखन की परिपाटियों के संदर्भ में ही परिभाषित किया जा सकता है। देरिदा के अनुसार मनुष्य का ज्ञान पाठों तक सीमित है और इन पाठों से बाहर कुछ भी नहीं है। यथार्थ का निर्माण भाषा के जरिए होता है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि भाषा से बाहर कोई दुनिया नहीं है। लेकिन इसका अर्थ यह भी नहीं कि जिस दुनिया को हम जानते हैं उस तक भाषा के जरिए हम पहुँच सकते हैं। हमारे विश्व की रचना भाषा से होती है और इसी लिए यथार्थ से पहले भाषा का प्रश्न आता है। यथार्थ का ज्ञान भाषा और इसके अस्तित्व के नियमों से परे नहीं है। विखंडन से संबंधित एक दूसरा मुद्दा भिन्नता का विचार है जो यह बताता है कि किसी भी चीज का अर्थ अन्य चीजों से भेद करके ही तय किया जा सकता है। किसी भी पाठ को अन्य पाठों से भेद के संदर्भ में ही समझा जा सकता है। इस तरह हम देखें तो चीजों के अस्तित्व से पहले ही भिन्नताएँ होती हैं।

एक दूसरा मुद्दा विपरीत तत्त्वों की एकता से संबंधित है क्योंकि एकता के बिना विपरीत तत्त्वों का अस्तित्व नहीं है। एकता और विरोध बारी बारी अपना काम करते हैं। विखंडन अर्थों की अस्थिरता और बहुलता पर जोर देता है। किसी भी चीज का कोई अडिग अर्थ नहीं है और किसी भी पाठ का केवल एक बार पाठन नहीं होता।

ज्याँ फ्रांसुआ ल्योतार्द (1924-1998): ल्योतार्द वह प्रमुख विचारक हैं जिन्होंने उत्तर आधुनिक शब्दावली को प्रसिद्धि दिलायी। उनकी पुस्तक *दि पोस्टमॉडर्न कंडीशन* ने, जो 1979 में फ्रेंच में और 1984 में अंग्रेजी में प्रकाशित हुई, इस शब्दावली को लोकप्रिय बनाया। उन्होंने इसे इस प्रकार परिभाषित किया-'अत्यंत सरलीकृत करते हुए मैं उत्तर आधुनिकता को महा आख्यानों के प्रति संदेह के रूप में परिभाषित करता हूँ।' ये 'मेटानैरेटिव्स' अर्थात् महा आख्यान हैं मसलन 'आत्मा का द्वंद्व, अर्थ का व्याख्यात्मक स्वरूप, तर्कसंगतता की मुक्ति या संपत्ति की रचना।' ल्योतार्द ने इन सारी चीजों के प्रति शंका व्यक्त की। उनके विचार से सभी तरह के सिद्धांत और विमर्श, ये सभी 'प्रच्छन्न आख्यान' हैं अर्थात् सार्वभौम वैधता के अपने दावों के बावजूद ये लगभग गल्प की तरह के विवरण हैं। उन्होंने उन आधुनिकतावादी सिद्धांतों की आलोचना की जो ऐसे विचारों को समग्र और सार्वभौम रूप में प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति रखते हैं। ये विचार बुनियादी तौर पर आधुनिक यूरोप के उत्पाद हैं। वह आधारभूतवाद को भी खारिज करते हैं जिसके तहत हर तरह के ज्ञान को सुरक्षित सैद्धांतिक बुनियाद पर आधारित ठहरा दिया जाता है। वह सभी महासिद्धांतों पर प्रहार करते हैं जिनकी अभिव्यक्ति उनके शब्दों में पुरुषवादी भाषा की जरिए होती है जिसमें प्रभुत्व के विभिन्न रूप दिखायी देते हैं– एक वर्ग पर दूसरे वर्ग का प्रभुत्व, महिलाओं पर पुरुषों का प्रभुत्व, अल्पमत पर बहुमत का प्रभुत्व। इसकी बजाय वह विभिन्नता और बहुलता, रेडिकल अनिश्चितता तथा विकल्पों की संभाव्यता के पक्ष में दलील पेश करते हैं।

ज्याँ बौद्रिआ (जन्म 1929): फ्रांस के एक अन्य विचारक बौद्रिआ को भी उत्तर आधुनिकतावाद से घनिष्ठ रूप ये जुड़ा माना जाता है और वह इसके एक खास चरम स्वरूप का प्रतिनिधित्व करते हैं। मीडिया और कला की दुनिया में इनके विचार बेहद प्रभावशाली थे। उनका जोर इस बात पर है कि हम सभी अब एक उत्तर आधुनिक जगत के हिस्से हैं। आधुनिकता और उत्तर आधुनिकता के बीच अनेक बिन्दुओं पर उन्होंने विभेद स्पष्ट किया है :

1) आधुनिक समाज उत्पादन पर आधारित था जबकि उत्तर आधुनिक समाज उपभोग पर आधारित है।

2) आधुनिक समाज में वस्तुओं का विनिमय एक खास बात थी जबकि उत्तर आधुनिक समाज में यह विनिमय प्रतीकात्मक है।

3) आधुनिक समाज में प्रतिनिधित्व प्राथमिक स्तर का था जहाँ यथार्थ और सत्य का प्रतिनिधित्व विचार किया करते थे। लेकिन उत्तर आधुनिक समाज में छद्म रूप को प्रधानता मिली है। और यहाँ कोई यथार्थ नहीं है तथा अर्थों को विघटन हो गया है।

बौद्रिआ की राय में उत्तर आधुनिक स्थिति को पैदा करने वाली तीन परिघटनाएँ हैं– छद्म रूप, अति यथार्थ और अंत:स्फोट। सूचना और संचार प्रौद्योगिकी के इस नए युग में मीडिया (अथवा टेलीविजन) की तस्वीरों ने वास्तविकता का स्थान ले लिया है। ये छद्म रूप दिनों दिन इतने शक्तिशाली होते जा रहे हैं कि इनसे ही सामाजिक जीवन के आदर्श तय होने लगे हैं। यथार्थ का मीडिया द्वारा प्रस्तुत छद्म रूप विडियो गेम्स, डिज़्नीलैंड आदि चीजें दैनिक जीवन की सच्चाई के मुकाबले उपभोक्ताओं को ज़्यादा तीव्र अनुभव प्रदान करने लगे हैं। इसलिए यह अति यथार्थ की एक ऐसी दुनिया हो गयी है जहाँ वास्तविकता और अवास्तविकता के बीच का भेद समाप्त हो गया है। वस्तुत: मीडिया द्वारा प्रस्तुत यह यथार्थ वास्तविक यथार्थ से भी ज़्यादा सही लगने लगा है। इसलिए पूरी स्थिति ही औंधी खड़ी कर दी गयी है।

बौद्रिआ ने उत्तर आधुनिक जगत को एक अंत:स्फोट के रूप में परिभाषित किया है जहाँ वर्गों, समूहों और पुरुषों महिलाओं की परंपरागत सीमाएँ धराशायी हो रही हैं। इस उत्तर आधुनिक दुनिया का न तो कोई अर्थ है, न कोई लय है और न इसका कोई तर्क है, इसमें न कोई केन्द्र है और न कोई उम्मीद। यह नकारवाद की दुनिया है।

हेडेन व्हाइट (जन्म 1928): अमेरिकी इतिहासकार हेडेन व्हाइट को एक महत्त्वपूर्ण उत्तर आधुनिक और खास तौर से इतिहास के क्षेत्र में उत्तर आधुनिक विचारक माना जाता है। उनकी पुस्तक *मेटा हिस्ट्री : दि हिस्टारिकल इमेजिनेशन इन नाइनटिन्थ सेंचुरी यूरोप* 1973 में प्रकाशित हुई और इतिहास के दर्शन के क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण कृति के रूप में इसकी प्रशंसा की गयी है। ऐसा माना जाता है कि इसने इतिहास-लेखन में एक नए 'भाषायी मोड़' की शुरुआत की। कहा जाता है कि अब यह पूछे जाने की बजाय कि 'इतिहास किस प्रकार विज्ञान प्रतीत होता है?', यह पूछा जा सकता है कि 'इतिहास किस प्रकार गल्प प्रतीत होता है?'

व्हाइट की दलील है कि हमारे समक्ष अतीत विभिन्न घटनाओं के महज एक सिलसिलाहीन क्रम के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। इतिहासकार वह व्यक्ति है जो इन घटनाओं के बीच से कोई अर्थपूर्ण कहानी तैयार कर लेता है। ऐतिहासिक घटनाओं में किसी तारतम्यपूर्ण वृतांत को पाना संभव नहीं है। अधिक से अधिक इनमें कहानी के कुछ तत्त्व मिलते हैं। अब जो थोड़े बहुत तत्त्व उपलब्ध होते हैं उनमें से कुछ घटनाओं को दबाकर और कुछ को उजागर करके इतिहासकार एक सिलसिलेवार और सुसंगत आख्यान तैयार करता है। इस प्रक्रिया कि अभिव्यक्ति इस तथ्य से हो सकती है कि उन्हीं घटनाओं को लेकर कोई त्रासदीपूर्ण, विडंबनापूर्ण या प्रहसनपूर्ण कहानी तैयार की जा सकती है जो इतिहासकार की राजनीतिक या अन्य वैचारिक स्थिति पर निर्भर करती है। इस प्रकार व्हाइट के अनुसार यह स्पष्ट हो जाता है कि इतिहास कोई वैज्ञानिक कार्य नहीं है बल्कि यह एक साहित्यिक उपक्रम है और ऐतिहासिक आख्यान 'मौखिक कहानियाँ' हैं न कि वैज्ञानिक तथ्य।

व्हाइट का कहना है कि इतिहास-लेखन में उपन्यास लेखन की सारी तकनीकें इस्तेमाल की जाती हैं। घटनाओं का चयन, चरित्र चित्रण, भावों में तब्दिली और दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति – ये कुछ ऐसी बातें हैं जो उपन्यास लेखन और इतिहास-लेखन दोनों में समान रूप से पायी जाती हैं। इतिहास-लेखन में उपन्यास लेखन की ही तरह कल्पनाशीलता की बहुत बड़ी भूमिका होती है। अपनी कल्पना शक्ति के जरिए ही इतिहासकार अतीत की घटनाओं में से अर्थ ढूंढता है और उन्हें लेकर एक विश्वसनीय कहानी गढ़ता है।

एफ.आर ऐंकरस्मिट : ऐंकरस्मिट नीदरलैंड्स के इतिहास के दार्शनिक हैं। इतिहास के बारे में उनकी विचारों को उनकी इन पुस्तकों में देखा जा सकता है– *नैरेटिव लौजिक : एक समेंटिक*

एनालिसीस ऑफ दि हिस्टोरियंस लेंग्वेज (1983), द *रियलीटी एफेक्ट इन दि रायटिंग ऑफ हिस्ट्री* (1990), और *हिस्ट्री एंड ट्रोपोलॉजी : दि राइज एंड फॉल ऑफ मेटाफर* (1994)।

वह इतिहास में किसी तरह के सामान्यीकरण की संभावना से इंकार करते हैं। उनके अनुसार अतीत का सामान्यीकरण का संदर्भ किसी वास्तविकता से नहीं है बल्कि इतिहास-लेखन के उद्देश्य से इतिहासकार द्वारा तैयार की गयी अवधारणाओं से है :

> 'मिसाल के तौर पर 'पुनर्जागरण', 'प्रबोधन', 'प्रारंभिक आधुनिक यूरोपीय पूँजीवाद' या 'चर्च का पतन' वस्तुत: वे नाम हैं जो अतीत पर अपनी पकड़ बनाने के इतिहासकारों के प्रयास के दौरान प्रस्तावित 'बिम्बों' अथवा 'तस्वीरों' को दिए गए नाम हैं।'

इसी प्रकार उनका कहना है कि 'बौद्धिक आंदोलन अथवा सामाजिक समूह जैसी अवधारणाएँ अतीत की किसी स्वरूप का हिस्सा नहीं है... यहाँ तक कि वे वास्तविक ऐतिहासिक परिघटना अथवा इस तरह की परिघटना के पहलुओं से भी कोई संबंध नहीं रखतीं।' इसलिए उनका जोर इस बात पर है कि सामान्यीकरण सामाजिक ऐतिहासिक यथार्थ की प्रकृति के बारे में किसी सच्चाई की अभिव्यक्ति नहीं करते हैं; वे केवल उन नियमितताओं की झलक देते हैं कि किस प्रकार हमने वास्तव में यथार्थ की अवधारणा प्रस्तुत करने का निर्णय लिया।

आगे चलकर उनका यह तर्क है कि इतिहासकारों की भाषा एक ऐसी गूढ़ता का निर्माण करती है जो अतीत के ज्ञान को समझना और कठिन बना देता है :

> 'ऐतिहासिक आख्यान एक जटिल भाषायी संरचना है जो खासतौर से अतीत के एक हिस्से को दिखाने के उद्देश्य से बनायी जाती है। दूसरे शब्दों में कहें तो इतिहासकारों की भाषा में पारदर्शिता नहीं है, एक निष्क्रिय माध्यम है जिसके जरिये हम अतीत को उसी तरह देख सकते हैं जिस तरह शीशे के किसी पेपर वेट के नीचे पड़े पत्र के अक्षरों को देखते हैं... हम अतीत को इतिहासकारों की भाषा के जरिये नहीं बल्कि उसमें सुझाये गये सुविधाजनक बिंदुओं के जरिए देखते हैं।'
>
> इसलिए ऐंकरस्मिट का प्रस्ताव है कि इतिहास संबंधी लेखन को किसी वस्तु को प्रस्तुत करने वाले चित्र की तरह देखा जाना चाहिए जो उस वस्तु से अलग होती है।

16.5 उत्तर आधुनिकतावाद और इतिहास-लेखन

उत्तर आधुनिकतावाद इतिहास-लेखन की परंपरागत पद्धति की बुनियादी आलोचना प्रस्तुत करता है। कभी-कभी यह आलोचना इतनी रेडिकल हो जाती है कि यह लगभग इतिहास का विरोध (एंटी हिस्ट्री) हो जाती है। इतिहास-लेखन के मुख्य तत्त्व मसलन तथ्य, स्रोत, दस्तावेज, अभिलेखों में रखे रेकॉर्ड इत्यादि उत्तर आधुनिकतावादी सूक्ष्मदर्शी नजरिए के अंतर्गत जबर्दस्त जाँच परख के विषय बन जाते हैं। इतिहास-लेखन से जुड़ी हुई निश्चितता और निरंतरता को खारिज किया जाता है, इतिहास-लेखन की आंतरिक कार्यपद्धति जाँच पड़ताल के दायरे में आ जाती है और 'सत्य' के निकट पहुँचने के इसके दावे पर प्रहार किया जाता है। उत्तर आधुनिक विचारधारा इतिहास-लेखन का अपने आप में इतिहास तैयार करती है और पश्चिमी संस्कृति में इसकी जड़ों के होने की बात को उजागर किया गया है। उत्तर आधुनिकतावाद ने इतिहास-लेखन की 'वस्तुपरक' परंपरा को खारिज किया है जिसकी शुरुआत रानके से हुई थी जिन्होंने अतीत को उसी तरह उद्घाटित करने का प्रयास किया 'जैसा वास्तव में वह था।' इसने इतिहास के भव्य रूपों तथा अपेक्षाकृत सामान्य रूपों दोनों पर प्रहार किया है। इसने इतिहासकारों की घोषित वस्तुपरकता और तटस्थता को चुनौती दी है और दावा किया है कि व्याख्या की प्रक्रिया अतीत को बिलकुल ही विभिन्न तरीकों से रूपांतरित करती है।

उत्तर आधुनिकतावाद परंपरागत इतिहास के मूल को आधुनिक यूरोप का अपने अन्य के साथ मुठभेड़ में खोजता है और इस पर सवाल खड़ा करता है। इसकी शुरुआत यूरोप के पुनर्जागरण से हुई जिसने यूरोप के लोगों को अन्य देशों और जनता की 'खोज' के लिए प्रेरित किया। इस तलाश में 'इतिहास' ने एक ऐसे उपकरण का काम किया जो यूरोप द्वारा शासित लोगों पर आधुनिक पश्चिमी इतिहास को थोप सके और कह सके कि जिनके इतिहास की अभी शुरुआत यूरोपीय लोगों के आगमन के फलस्वरूप हुई है। इस प्रकार इतिहास का इस्तेमाल अतीत के अध्ययन मात्र के लिए नहीं बल्कि आधुनिक यूरोप द्वारा स्थापित मानदंडों के अनुसार इसे गढ़ने के लिए किया गया। यही वजह है कि इतिहास उपनिवेश बनाये गये क्षेत्रों पर सत्ता की पश्चिमी ललक और उनके अतीत को हड़प लेने की इच्छा के इर्द गिर्द घूमता रहा।

परंपरागत अर्थ में देखें तो बुनियादी तौर पर इतिहास के दो रूप हैं। एक तो इतिहास का भारी भरकम आख्यान है जो यह देखता है कि मानव समाज एक निश्चित दिशा में, एक अंतिम लक्ष्य की ओर – वैश्विक पूँजीवादी समाज या वैश्विक साम्यवादी समाज की ओर बढ़ रहा है। इतिहास का एक दूसरा अपेक्षाकृत सामान्य स्वरूप है जो केवल तथ्यों पर आधारित होने और किसी भी वैचारिक रुझान से परहेज करने का दावा करता है। यह खुद के तटस्थ और वस्तुपरक होने का दावा करता है और इतिहास-लेखन का यह सर्वाधिक स्वीकार्य रूप है। इसे 'निचले खाने का इतिहास' (लोअर केस हिस्ट्री) भी कहते हैं जो 'यथार्थवादी, वस्तुनिष्ठवादी, दस्तावेजीकरण करने वाला और उदार-बहुलवादी' है। पेशेवर इतिहास-लेखन के केंद्र में तथ्यों के वस्तुनिष्ठता की धारणा है जो अतीत को उद्‌घाटित करने के लिए यथार्थ को प्रस्तुत करने में समर्थ हो। यहाँ ऐतिहासिक तथ्यों को इस रूप में देखा जाता है कि उनका स्वतंत्र अस्तित्व है और साथ ही व्याख्या से पूर्व के उनके रूप पर ध्यान दिया जाता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि इतिहासकार इस योग्य होते हैं कि सत्य का अन्वेषण कर सकें, वे तटस्थ हों और उनमें कोई पूर्वाग्रह न हो।

उत्तर आधुनिकतावाद इन सभी धारणाओं को खारिज करता है। यह न केवल अतीत के किसी सारतत्त्व के लक्षण पर प्रहार करता है बल्कि 'खुद अपने हित में' अतीत के अध्ययन के प्रयासों की भी आलोचना करता है। इतिहास-लेखन के इन दोनों रूपों को वैचारिक मानता है और यह मानता है कि ये दोनों रूप एक खास सांस्कृतिक परिवेश में स्थित हैं। इतिहास के दोनों रूपों को 'अतीत के बारे में महज सिद्धांत' कहा जाता है जिसमें सत्य को प्रस्तुत करने का कोई दावा न हो। दोनों पश्चिमी आधुनिकता के उत्पाद हैं और उन तरीकों का प्रतिनिधित्व करते हैं जिनमें इन्होंने 'अतीत की अवधारणा का ग्रहण किया हो।' उत्तर आधुनिकतावादियों के अनुसार कोई ऐतिहासिक सत्य नहीं होता सिवाय इसके जिसे इतिहासकार तैयार करते हैं, कोई तथ्य नहीं होता सिवाय इसके जिसकी इतिहासकार व्याख्या करते हैं और प्रस्तुत करने योग्य कोई अतीत नहीं होता सिवाय इसके जिसका इतिहासकार निर्माण करते हैं।

उत्तर आधुनिकतावादियों के विचार से इतिहास को एक वास्तविक ज्ञान के रूप में तभी स्वीकार किया जा सकता है जब वह सत्य के प्रति और इस प्रकार सत्ता के प्रति अपने दावों को छोड़ दे और इसके खंडित चरित्र को स्वीकार करे। अगर कोई इतिहास संभव है तो वह बस लघु इतिहास है। इतिहास विषयक आख्यान में अस्पष्टता और रिक्तियों का होना स्वाभाविक है और जरूरी भी है तथा इसे बने रहने देना चाहिए। निरंतरता, सामंजस्य और सुसंगतता की चाह को छोड़ देना चाहिए। यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि सारे दस्तावेज और तथ्य एक सामान्य पाठ के अलावा कुछ भी नहीं है और इन्हें किसी विचारधारा के अंतर्गत तैयार किया गया है।

इतिहास-लेखन के सिलसिले में उत्तर आधुनिकतावादियों के अंदर और भी ज़्यादा चरम दृष्टिकोण दिखायी देते हैं। केथ जेनकिंस का कहना है कि 'हम एक ऐसे उत्तर आधुनिक क्षण में हैं जब हम इतिहास को पूरी तरह भुला सकते हैं।' यहाँ वह कुछ हद तक अपने पुराने विचारों

दशक से लेकर 1840 के दशक तक देखा जा सकता है। यह फ्रांसीसी क्रांति और इंग्लैंड के औद्योगिक क्रांति की प्रतिक्रिया स्वरूप था जिसने सामाजिक और राजनीतिक अव्यवस्था को जन्म दिया था। रोमानी विचारों के साथ महत्त्वपूर्ण बात मनुष्य और प्रकृति के बीच एक जैविक संबंध का स्थापित होना था।

विज्ञानवाद : इसका सरोकार इस विश्वास से है कि प्राकृतिक विज्ञानों पर लागू किये जाने वाले तर्क की निगमनिक पद्धति तथ्यपरक ज्ञान का एक मात्र स्रोत है और उनके जरिए ही मनुष्य और समाज की सही सही जानकारी संभव है।

16.9 अभ्यास

1) उत्तर आधुनिकतावाद क्या है? इससे संबद्ध समझे जाने वाले कुछ महत्त्वपूर्ण विचारकों के विचारों के बारे में लिखें।

2) आधुनिकतावादी परंपरा पर एक टिप्पणी लिखें। उत्तर आधुनिकतावाद इससे किस प्रकार भिन्न है?

3) उत्तर आधुनिकता और उत्तर आधुनिकतावाद में क्या फर्क है?

4) इतिहास के उत्तर आधुनिक दृष्टिकोण के बारे में लिखें। किन आधारों में इनकी आलोचना की जाती है?

16.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

केथ जेनकिन्स(सं.), *दि पोस्ट माडर्न हिस्ट्री रीडर* (लंदन और न्यूयार्क, रुटलेज, 1997)

केथ जेनकिन्स, *ऑन 'व्हाट इस हिस्ट्री?': फ्रॉम कार ऐण्ड एल्टन टु रोर्ती ऐण्ड व्हाइट*, (लंदन और न्यूयार्क, रुटलेज, 1995)

स्टीवेन बेस्ट और डगलस केल्नर, *पोस्ट मॉडर्न थ्योरी : क्रिटिकल इंटरोगेशंस* (लंदन, मैकमिलन, 1991)

ब्रायन फे, फिलिप पांपर और रिचर्ड टी वॉन (सं.), *हिस्ट्री ऐण्ड थ्योरी: कांटेंपोरेरी रीडिंग्स* (मैस. और ऑक्सफोर्ड, ब्लैकवेल, 1998)

स्टीव सेडमान (सं.), *दि पोस्ट मॉडर्न टर्न : न्यू परस्पेक्टिव्स ऑन सोशल थ्योरी* (कैंब्रिज, कैंब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, 1994)

जार्ज जी. इग्गर्स, *हिस्टोरियोग्राफी इन दि ट्वंटीएथ सेंचुरी : फ्रॉम साइंटेफिक ऑब्जेक्टिविटी टु दि पोस्ट माडर्न चैलेंज* (हनोअर और लंदन, वेस्लेऑन यूनविर्सिटी प्रेस, 1997)

जाफ्री रॉबर्ट्स(सं.), *दि हिस्ट्री ऐण्ड नेरेटिव रीडर* (लंदन और न्यूयार्क, रुटलेज, 2001)

ऑर्थर मार्विक, *दि नेचर ऑफ हिस्ट्री* (तीसरा संस्करण, न्यूयार्क, 1989)

सी. बेहन मैकुला, *दि ट्रुथ ऑफ हिस्ट्री* (लंदन, न्यूयार्क, रुटलेज, 1998)

सी. बेहन मैकुला, *दि लॉजिक ऑफ हिस्ट्री* (लंदन, न्यूयार्क, रुटलेज, 2004)

इकाई 17 इतिहास में लिंगभेद

इकाई की रूपरेखा

17.1 प्रस्तावना

भारत में इतिहास के साथ महिलाओं का दोहरा संबंध है क्योंकि वे अब तक उपलब्ध इतिहास विषयक विवरणों में एक ही साथ उपस्थित भी हैं और अनुपस्थित भी। महिलाएँ यहाँ अदृश्य हैं– खासतौर पर एक स्त्रीवादी दृष्टिकोण से और वे अपेक्षाकृत दिखायी देती हैं राष्ट्रवादी इतिहास के सरोकारों की दृष्टि से खासतौर से प्राचीन भारत के संदर्भ में। इस प्रकार आज नारीवादी इतिहासकार का काम दुगुनी कठिनाई का है। विश्व के अनेक हिस्सों के विपरीत जहाँ महिलाओं को इतिहास में प्रवेश दिया गया, यहाँ एक तरह से देखा जाय तो इतिहास का पुनर्लेखन करना होगा। इसके अलावा स्त्रीवादी दृष्टिकोण को शामिल करते हुए इतिहास को फिर से लिखने में इतिहासकारों को न केवल विभिन्न स्रोतों और सामाजिक प्रक्रियाओं की खोज (और दुबारा खोज) करनी पड़ेगी, न केवल साक्ष्यों पर से पर्दा हटाकर (जिसकी हमेशा अवहेलना की गयी अथवा जिसे मौजूदा पूर्वाग्रहों के कारण हाशिये पर डाल दिया गया) इतिहास विषयक नये लेखन में लिंगभेद संबंधी मुद्दों को आत्मसात करना होगा बल्कि इस तरह के लेखन को उत्पीड़न के अनेक इतिहासों पर से आवरण हटाना होगा जिनके फलस्वरूप इतिहास बहुत सपाट और कुछ लोगों के एक आयामी विवरण से भरा रहता है। इसीलिए पिछले 20-25 वर्षों में भारत में जो इतिहासकार लेखन में व्यस्त रहे हैं उन्हें अनिवार्य रूप से हमारे समाज के उपेक्षित हिस्सों पर ध्यान केंद्रित करना होगा और अपनी सीमाओं को विस्तार देना होगा। इस नयी रोशनी में अब एक लिंगभेद संवेदी इतिहास की संभावना शुरू हो गयी है हालाँकि हमें इस बात को रेखांकित करने की जरूरत है कि यह नया क्षेत्र ध्यान केंद्रित करने के फलस्वरूप अपने आप ही निकला नतीजा नहीं है बल्कि नारीवादियों के हस्तक्षेपों का एक सचेत उत्पाद है। एक और बात पर ध्यान देने की जरूरत है कि नारीवादी विद्वानों द्वारा जिन कामों की जिम्मेदारी ली गयी है उनमें से पहला काम नये तरह के इतिहास-लेखन की शुरुआत से भी पहले से, यह देखना होगा कि जो कुछ अतीत में लिखा जा चुका है उस पर विश्लेषण किया जाय। इसका मतलब नारीवादी इतिहास-लेखन से पूर्व अतीत का नारीवादी पुनर्लेखन होना चाहिए। और अंत में जब नया नारीवादी इतिहास लिखा जाने लगा तो उन संरचनाओं और विचारधाराओं की खोज करने के लिए जिन्होंने दक्षिण एशियाई पित्रसत्तात्मक समाज की विशिष्टताओं में योगदान किया, उपनिवेशवादियों और राष्ट्रवादियों के सरोकारों से परे रहना चाहिए।

17.2 सत्ता के आख्यान के रूप में इतिहास

इतिहासकारों के एक वर्ग में नये सरोकारों और नयी इच्छा शक्ति के दिखायी देने के बावजूद इस तरह के इतिहास-लेखन में, जिनमें महिलाएँ को सचमुच शामिल किया गया हो, कई तरह की अंतर्निहित समस्याएँ हैं। अन्य स्थानों की तरह यहाँ भी इतिहास के स्रोतों में उन्हीं लोगों के सरोकार दिखायी देते हैं जिनके पास सत्ता है। कभी-कभी औचित्यपूर्ण ढंग से यह दलील दी जाती है कि प्रभुत्वकारी भारतीय परंपरा में जिसे ब्राह्मणवादी परंपरा भी कहते हैं समय का और इसलिए इतिहास का बोध रेखीय नहीं बल्कि चक्रीय होता है जो इतिहास की समझ में निर्णायक अंतर पैदा करता है। इस विचार का एक निहितार्थ यह है कि भारत में समकालीन इतिहास का शिक्षण पश्चिम की रेखीय परंपरा से उपजा है और 'अधिकृत' भारतीय परंपरा का उल्लंघन करता है। इसलिए इसका आगे निहितार्थ यह हुआ कि इसे किसी तरह की जाँच-पड़ताल के दायरे में नहीं लाया जा सकता। इस दलील में इस तथ्य की अनदेखी कर दी जाती है कि इतिहास की चक्रीय धारणा भी सत्तानशीन लोगों का उतना ही उत्पाद है जितनी इतिहास की रेखीय धारणा। यहाँ यह जानना उपयोगी होगा कि पुरातत्त्वीय साक्ष्य के विपरीत, जिसे हल्के-फुल्के शब्दों में इतिहास का 'कूड़ा' कहा जा सकता है क्योंकि ये भौतिक संस्कृति के प्रासंगिक अवशेष हैं और इसलिए आने वाली पीढ़ी के जिम्मे कुछ छोड़ने के सचेत निर्णय से संबद्ध नहीं है, लिखित दस्तावेज आत्म चेतन उत्पाद हैं और उनके साथ घनिष्ठ तौर पर जुड़े हैं जिन्होंने सत्ता का इस्तेमाल किया है। 'राजतरंगिणी', 'हर्षचरित' या पुराणों के 'इतिहास' वाले अंश भले ही इतिहास की चक्रीय धारणा को व्यक्त करते हों पर वे सत्ता के सुस्पष्ट आख्यान हैं।

यह भी दलील दी जा सकती है कि ये स्रोत हमारे पास प्राचीन भारत के उपलब्ध स्रोतों के अंश मात्र हैं और इन स्रोतों का भारी हिस्सा किसी भी दृष्टि से रुढ़िगत ऐतिहासिक स्रोत नहीं हैं– यह तो मिथकों, धार्मिक ग्रंथों, तथा अन्य तरह की साहित्यिक कृतियों का एक रंगबिरंगा संकलन है। तो भी ग्रंथों से संबद्ध स्रोत जो हम तक पहुँचे हैं, वे 'धार्मिक', 'सांस्कृतिक', 'सामाजिक' या राजनीतिक अर्थशास्त्र के सरोकार से युक्त होते हुए भी एक ऐसी ज्ञान प्रणाली के उत्पाद हैं जो बेहद एकाधिकारवादी और श्रेणीबद्ध थी और इस प्रकार बहुत संकीर्ण ढंग से केंद्रित थी कुछ लोगों के हाथों में – एक ऐसे समूह में जो अन्य किसी भी स्थान के मुकाबले यहाँ और भी संकीर्ण था।

इस संदर्भ में यह खोज करना उपयोगी हो सकता है कि इतिहास का 'दस्तावेजीकरण' करने वालों द्वारा थोपे गए सीमित सरोकारों से विद्वानों ने अलग होने का प्रयास किया। समकालीन समय में 'आधिकारिक' इतिहास के पूर्वाग्रहों का मुकाबला करने में मौखिक इतिहास का प्रयोग संभव है। लेकिन हमारे प्रारंभिक इतिहास के मामले में लिखित और मौखिक का संबंध काफी जटिल है। एक तरह से देखें तो सभी 'पाठ' पहले मौखिक तौर पर लोगों तक पहुँचाये गये और फिर काफी बाद में इनका लिखित रूप सामने आया। हालाँकि ये ग्रंथ अंततः महज रूढ़िगत हो गए या इन्हें पवित्रता का रूप दिया गया पर इन्हें ही आधिकारिक समझा गया और इस योग्य माना गया कि इन्हें परंपरागत तौर पर अपनाया जा सके। इसकी वजह यह थी कि इस पर सावधानीपूर्वक नियंत्रण रखा जा सकता था। मौखिक ग्रंथ अपने आप में प्रभुत्ववाद का मुकाबला करने वाले नहीं थे। इसके अलावा कुछ मौखिक परंपराएँ जिन्हें धार्मिक साहित्य के वैचारिक क्षेत्र में लाया गया लेकिन जनता के बीच उनका बहुत ज़्यादा प्रचार नहीं हो सका और इसलिए मिले-जुले स्वतः समूह के बीच वे ज़्यादा लोकप्रिय हो सके। मसलन जातक अथवा पंचतंत्र। मिसाल के तौर पर जातक में आख्यानों का काफी समृद्ध विवरण है और प्रायः इसमें पिछड़े जनों, चाहे वे पुरुष हों या महिलाएँ, उनके बारे में अलग तरह का वर्णन है। इन सबके बावजूद वे सभी पूरी तरह बौद्ध विश्व दृष्टि के अंतर्गत आते हैं। जातक कथाएँ उच्च संस्कृति और निम्न संस्कृति के बीच मध्यस्थता का उत्पाद है। इन आख्यानों को 'भिखुओं' (बौद्ध भिक्षुओं) ने कहा है इसलिए इन्हें 'लोककथा' नहीं कह सकते। वैसे तो वे ब्राह्मणवादी ग्रंथों के विकल्प हैं फिर

भी उन्हें अभिजात्य वर्ग के अन्य ग्रंथों के विपरीत नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार 'थेरीगाथा' के जो छंद हैं अथवा 'भिखुड़ियों' के जो गीत हैं वे संभवत: दुनिया में कहीं भी महिलाओं के गीत के प्राचीनतम संकलनों में से एक हैं। निश्चित रूप से महिलाओं के गीतों के संकलन होने के बावजूद बौद्ध ग्रंथों के संकलनकर्ताओं की संपादकीय दृष्टि से ये बच नहीं सके। इन तथ्यों ने मौखिक स्रोतों के इस्तेमाल को तथा लिंगभेद संवेदी इतिहास के नीचे से लिखे जाने वाले काम को जटिल बना दिया। मौखिक पाठों के तारीख निर्धारण में भी काफी कठिनाइयाँ रही क्योंकि अलग-अलग कालों के लिए उपलब्ध अन्य साक्ष्यों के साथ आसानी से इन्हें मिला पाना संभव नहीं हो पाता था। तो भी इस तरह के स्रोतों में अंतर्निहित समस्याओं के होने के बावजूद इतिहासकारों की अपेक्षाकृत नयी पीढ़ी ने 'नीचे से इतिहास' लिखने के दृष्टिकोण में महिलाओं के मुद्दों को शामिल किया और इन स्रोतों को रचनात्मक तौर पर इस्तेमाल किया। इन्होंने कई तरह की रणनीतियाँ अपनायी मसलन आदेशात्मक ग्रंथों के मामले में पंक्तियों के बीच छुपे भावों पर ध्यान देना अथवा संदर्भ विशेष में मिथकों और आख्यानों द्वारा उठाए गए नए-नए सवालों पर गौर करना और एक नयी अंतर्दृष्टि को समझना आदि। आगे के खंडों में हम इन मुद्दों पर चर्चा करेंगे।

17.3 आधुनिक इतिहास-लेखन में महिलाओं की अनुपस्थिति

अब उन कारकों की जाँच करना हमारे लिए उपयोगी होगा जिन्होंने इतिहास-लेखन की दिशा को मोड़ा और इस प्रकार लिंगभेद आधारित इतिहास के लिए उत्प्रेरक का काम किया। भारतीय संदर्भ में 1950 के दशक के उत्तरार्द्ध तक राष्ट्रवादी इतिहास का दबदबा बना रहा। राष्ट्रवादी इतिहास का मुख्य तौर पर केन्द्र बिन्दु राजनीतिक इतिहास (राजाओं, युद्ध में विजयों, आक्रमणों जैसा कि प्राचीन उपनिवेशिक इतिहास के मामले में होता था; उदारवादी और कल्पनाशील प्रशासकों, राजनीतिक संस्थाओं आदि-आदि) और सांस्कृतिक इतिहास था जिसमें संस्कृतिक मोर्चे पर उपलब्धियों का ब्यौरा दिया जाता था। बड़े आदर्शवादी चरित्रों और स्वर्णिम युगों का अभिभूत होकर चित्रण करने के अलावा एक सजग प्रवृत्ति यह भी देखी गयी कि आंतरिक अंतर्विरोधों, विभिन्न क्षेत्रों की श्रेणीबद्धताओं तथा उत्पीड़क संरचनाओं की जाँच पड़ताल करने से सचेत ढंग से बचा गया। इस संदर्भ में हम अन्य लोगों के अलावा आर.के.मुखर्जी, आर.सी.मजूमदार और के.पी. जायसवाल की विभिन्न पुस्तकें देख सकते हैं। भारतीय इतिहास-लेखन के इस प्रवृत्ति को 1956 और 1963 के बीच भारतीय विद्या भवन, बंबई द्वारा प्रकाशित और आर.सी.मजूमदार द्वारा संपादित भारतीय इतिहास एवं संस्कृति के विभिन्न खण्डों में अत्यंत योजनाबद्ध ढंग से देख सकते हैं। यह साम्राज्यवादी सरकार का विरोध करने की योजना का एक अंग था लेकिन साथ ही उस मध्य वर्ग की धुंध भरी दृष्टि का भी उत्पाद था जो औपनिवेशिक सत्ता और देश के 'भद्र लोगों' के बीच डोल रही थी। मिसाल के तौर पर जुझारू राष्ट्रवादी नेता तिलक ने ये यह दलील दी कि मजदूरों और मालिकों का विभाजन गलत है। उनका कहना था कि सभी भारतीय श्रमिक थे या शूद्र और दास थे जबकि अंग्रेज ही केवल मालिक थे।

इस बीच और पीछे औपनिवेशिक काल में जाएँ तो देखते हैं कि सामाजिक इतिहास का प्रादुर्भाव हुआ। अन्य स्थानों की जगह यहाँ भी प्रारंभिक चरणों में सामाजिक इतिहास एक तरह का अवशिष्ट इतिहास था जिसमें राजनीति और अर्थशास्त्र को छोड़ दिया गया था। इसके अंतर्गत कुछ ऐसे मुद्दों की खोजबीन की गयी थी जिनका सरोकार सामाजिक सुधार और धार्मिक तथा पुनरुत्थानवादी आंदोलनों के इतिहास से था। इनमें से अधिकांश उन व्यक्तियों के जीवन वृतांत संबंधी आख्यानों के दायरे में थे जो इन आंदोलनों का नेतृत्व कर रहे थे। अंत में स्वाधीनता के बाद के दशकों में और मार्क्सवादी दृष्टिकोण के प्रभाव के अंतर्गत सामाजिक इतिहास सामाजिक संगठनों का इतिहास बना। इस क्षेत्र में डी.डी.कोशाम्बी पहले व्यक्ति थे और उन्होंने दो अत्यंत महत्त्वपूर्ण पुस्तकों तथा कुछ कल्पनाशील शोधपत्रों को प्रस्तुत किया जिनका प्रकाशन 1950 के दशक के मध्य में हुआ। उनके प्रतिपादनों को भारतीय इतिहास के विभिन्न युगों और उत्पादन

प्रकृतियों तथा अन्य राजनीतिक एवं सामाजिक संस्थाओं के बीच संबंधों के विस्तृत विश्लेषण का आधार बनाया गया। 1970 के दशक के अंतिम वर्षों और 1980 के दशक तक इस बात पर गर्मागर्म बहस चल पड़ी थी कि भारत में सामंतवाद है या नहीं और यद्यपि इस तरह की बहस में उठाये गये मुद्दे काफी महत्त्वपूर्ण थे पर इस बात का कोई जिक्र नहीं था कि सामंती उत्पादन पद्धति में महिलाओं के साथ क्या हुआ और इन नये उत्पादन संबंधों में उनकी क्या हैसियत रही। इसके मूल में यह धारणा थी कि महिलाओं के लिए भी वही इतिहास है जो पुरुषों के लिए है। उत्पादन पद्धतियों की खोज जारी रखते हुए सामाजिक पुनरुत्पादन पद्धतियों के क्षेत्र में जाने का कोई प्रयास नहीं किया गया जहाँ लैंगिक संरचनाओं, विचारधाराओं तथा सामाजिक और आर्थिक सत्ता संरचनाओं के बीच संबध के लिए वर्ग और लिंगभेद को मिलाया जा सकता था। इसी प्रकार 'दास कर्मकारों', 'शूद्रों और चांडालों' जैसे निचले तबके के इतिहास की खोज का एक प्रशंसनीय प्रयास तो शुरू हुआ जिसके अंतर्गत वर्ग और जाति तथा असमान सत्ता संबंधों के मुद्दे उठाये गये, पर इसमें स्त्री-पुरुष के असमानतापूर्ण संबंधों को शामिल नहीं किया गया। जो भी हो मेरी दृष्टि से सामाजिक संरचनाओं के इतिहास की खामी यह रही है कि मानव समुदायों को एक व्यक्ति के रूप में चाहे वे पुरुष हों या महिला – और विभिन्न सामाजिक प्रक्रियाओं में उनके अनुभव इसमें से गायब लगते हैं। चूँकि यह उत्पादन पद्धति पर केंद्रित था, इसकी खोज के मुख्य मुद्दे अतिरिक्त यानी सर्प्लस पैदा करने के तरीके, मजदूरों के शोषण के विशिष्ट रूप और उत्पादन संबंधों के रूपांतरण में टेक्नॉलॉजी की भूमिका हो गए। मनुष्य के अनुभवों, मानसिकताओं और भावनाओं का पता लगाने की कोशिश नहीं की गयी। फिर तो कुछ अर्थों में यह इतिहास भी उतना ही बेगाना है जितना प्रारंभिक राजवंशों का अथवा उनकी प्रशासन प्रणालियों का इतिहास। इस गड़बड़ी को एक हद तक 'सबल्टर्न' के इतिहास-लेखन की नयी प्रवृत्तियों द्वारा सुधारा गया है लेकिन इन विद्वानों ने भी एक श्रेणी के रूप में महिलाओं की उपेक्षा ही की। इन्होंने इतिहास के चौखटे के अंदर साधारण लोगों मसलन किसानों और आदिवासियों को तो शामिल किया पर इनका ध्यान भी पूरी तरह किसान 'पुरुषों' पर ही टिका रहा और वे यह नहीं सोच सके कि 'सबल्टर्नस' के भीतर 'सबल्टर्नस' हो सकते हैं। उनका लेखन भी उतना ही पुरुष-केंद्रित था जितना प्रारंभ के राष्ट्रवादी या मार्क्सवादी इतिहास में देखने को मिलता है। इसे एक विडंबना ही कहेंगे कि 'शक्तिहीन' लोगों के इतिहास के लिए जगह तैयार हो रही थी पर शक्तिहीनों में जो सबसे ज़्यादा शक्तिहीन था वह इतिहास विषयक नयी प्रवृत्तियों के दायरे से बाहर ही पड़ा रहा।

17.4 महिलाओं का आंदोलन और लिंगभेद संवेदी इतिहास

फिर महिलाओं का इतिहास लिखने की ओर रुझान कैसे पैदा हुआ? इसका श्रेय हम 1970 के दशक के महिला आंदोलनों को दे सकते हैं जिन्होंने भारत में महिलाओं संबंधित अध्ययन शुरू करने का संदर्भ दिया और इसके लिए प्रेरित किया। जैसा कि हाल में तनिका सरकार ने इस ओर इंगित करते हुए कहा कि 1970 के दशक से एक सतत और सचेत परंपरा के रूप में महिलाओं के इतिहास की वजह यह थी कि बलात्कार, दहेज और घरेलू हिंसा के खिलाफ चल रहे जबर्दस्त और जुझारू आंदोलनों में खुद अनेक नारीवादी विदुषियाँ शामिल थीं। यहीं से पितृसत्तात्मक ढाँचे के विभिन्न रूपों और इनसे जुड़े सांस्कृतिक व्यवहारों की तस्वीर संघर्ष में लगी महिलाओं के अनुभवों के जरिए उभर कर सामने आने लगी। इन वर्षों ने जो स्पष्ट तौर पर महिलाओं के राजनीतिक आंदोलन के सर्वोत्तम वर्ष थे और इनसे हासिल अंतर्दृष्टि ने नारीवादी विद्वानों को अनुभवजनित सामग्री दी जिसके आधार पर उन्होंने लिंगभेद को विश्लेषण की एक श्रेणी के रूप में सूत्रबद्ध किया। (महिलाओं के इतिहास के क्षेत्र में रिक्त स्थानों का लाभ उठाते हुए मुख्य धारा के विद्वानों द्वारा अपने लेखन में पितृसत्तात्मकता पर ध्यान देने की हाल की जो परिघटना दिखायी दे रही है वह स्पष्ट तौर पर गैर राजनीतिक और विचलनकारी एजेंडा है जो 'नारीवादी' विद्वता से अपने को एकदम अलग करता है।) और चूँकि 1970 के दशक में किसानों मजदूरों और आदिवासियों के अन्य राजनीतिक आंदोलनों ने हमारा ध्यान उन

दमनकारी स्थितियों की ओर आकृष्ट किया जिनमें हाशिये पर पड़े ये लोग जिंदगी बसर कर रहे थे और संघर्ष में लगे थे, इतिहासकारों को मजबूरन इतिहास का दायरा बढ़ाना पड़ा। इस प्रकार इतिहास के सारतत्त्व का नाटकीय ढंग से जनवादीकरण हुआ और आज हम लोग सौभाग्य से उस दिशा की ओर बढ़ रहे हैं जो इतिहास को समाज विज्ञानों में अत्यंत गतिशील विषय बना रही है। लेकिन यह मानना महत्त्वपूर्ण होगा कि इतिहासकार और उनमें से भी कुछ ही जमीन से जुड़े आंदोलन पर स्पंदित होते हैं: वे नयी प्रवृत्तियों का नेतृत्व नहीं बल्कि जनता द्वारा निर्धारित एजेण्डा का अनुसरण करते हैं और यही वजह है कि लिंगभेद संवेदी इतिहास के लिए महिलाओं के आंदोलन का इंतजार करना पड़ेगा जो न तो अपने आप पैदा होगा और जो न मार्क्सवादी इतिहास या सबल्टर्न इतिहास के बाद की तार्किक प्रवृत्ति है।

17.5 नारीवादी इतिहास-लेखन की विशिष्टताएँ

आज के समय में यह उपयुक्त होगा कि हम महिलाओं के इतिहास की मुख्य प्रवृत्तियों की समीक्षा करें। कामचलाऊ सूत्रीकरणों तथा सामान्य पुनर्पाठन से अब यह काफी स्पष्ट हो गया है कि कमजोर संस्थागत आधार के बावजूद महिलाओं के इतिहास की शुरुआत हुई। पिछले दशक के दौरान महिलाओं के इतिहास के क्षेत्र में कुछ अत्यंत उत्कृष्ट काम सामने आए जिन्होंने मुख्यधारा के इतिहासकारों को इसे मान्यता देने और कभी कभी तो इन नारीवादी विद्वानों द्वारा तैयार किए 'बाजार' का लाभ उठाने के लिए मजबूर किया।

नारीवादी विद्वानों द्वारा जो पहला महत्त्वपूर्ण काम किया गया उनमें एक प्राचीन भारत में और खास तौर से वैदिक काल के दौरान हिन्दू नारित्व के गौरव का जो राष्ट्रवादी आख्यान प्रस्तुत किया जाता था उसे इन विद्वानों ने ध्वस्त किया। हिन्दू/वैदिक नारी को 'आर्य' और 'दासी' नारी के रूप में बाँटकर अलग-अलग सामाजिक स्थितियों के अनुसार अलग-अलग इतिहासों की ओर ध्यान आकर्षित किया गया। यह सुधार बहुत महत्त्वपूर्ण था क्योंकि जहाँ समाज के स्तरीकरण की दृष्टि से लिंगभेद संबंधी तत्त्व को इसमें शामिल करना जरूरी था उतना ही संभवत: यह भी जरूरी था कि खुद महिलाओं के स्तर पर जो वर्गीकरण किया गया है उसे भी सामने लाया जाय। राष्ट्रवादियों ने 'हिन्दू/वैदिक या 'आर्य नारी का जो वर्गीकरण किया था और इस तरह वास्तविक विभेद को छिपाया था वह प्रकट हो गया। इसके साथ ही महिलाओं के विशिष्ट सामाजिक इतिहासों की रूपरेखा की जरूरत को उजागर किया गया। इस प्रकार हम देखते हैं कि इन प्रारंभिक वर्षों के दौरान प्रमुख प्रवृत्ति इतिहास की मुख्यधारा के आख्यानों के साथ महिलाओं का पूरक इतिहास लिखने की थी। महिलाओं के इतिहास को विभिन्न क्षेत्रों में और संघर्ष के विभिन्न रूपों में रखकर वर्ग के संदर्भ में महिलाओं के विशिष्ट अनुभवों को लिंगभेद संबंधी विश्लेषण के लिए इस्तेमाल किया गया।

महिलाओं का इतिहास लिखते समय जिस दूसरी बात पर जोर दिया गया वह था महिलाओं के लेखन को सामने लाना और इतिहास में से ढूँढ़-ढूँढ़कर उन लेखों को संकलित करना जो काफी कठिन काम था। मुख्यधारा के इतिहास द्वारा आम तौर पर भरोसा किए जाने वाले स्रोतों में पुरुषवादी पूर्वाग्रह को ध्यान में रखें और वैकल्पिक स्रोतों को ढूँढ़ने में नारीवादी इतिहासकारों द्वारा झेली गई कठिनाइयों पर ध्यान दें तो इस तरह का संकलन तैयार करना बहुत महत्त्वपूर्ण माना जाएगा। इससे कुछ ऐसे स्रोतों को समाप्त करने की प्रथा तोड़ने में मदद मिली जिन्हें बहुत विश्वसनीय तो नहीं माना जाता था लेकिन उन्हें आधिकारिक स्तर पर इसलिए स्वीकृति मिल जाती थी क्योंकि वे सत्ता के काफी करीब थे। इसी के साथ एक समानांतर घटना यह हुई जो कम महत्त्वपूर्ण नहीं थी कि महिलाओं के लेखन से संबंधित कुछ अत्यंत समृद्ध और संवेदनशील पाठ्य सामग्री का प्रकाशन हुआ।

महिलाओं के इतिहास और नए लेखन से प्राप्त अंतर्दृष्टि पर एक सरसरी नजर डालें तो हमें प्रत्यक्ष तौर पर यह पता चलता है कि भारत के इतिहास को कालक्रम के अनुसार प्राचीन,

मध्यकालीन और अर्वाचीन के रूप में बांटते समय लिंगभेद को आम तौर पर हर जगह विश्लेषण के उपकरण के रूप में असमान तौर पर इस्तेमाल किया गया। नए लेखन का भारी भरकम हिस्सा औपनिवेशिक और उत्तर औपनिवेशिक भारत के लिए किया जाता रहा है और प्राचीन भारत के लिए बहुत ही कम तथा मध्यकालीन भारत के लिए तो और भी कम यह लेखन देखने में आता है। इसकी वजह एक हद तक उन शास्त्रीय भाषाओं के ज्ञान की जरूरत हो सकती है जिनमें इस काल के दौरान उपलब्ध स्रोत लिखे गए हैं लेकिन एक हद तक यह भी वजह हो सकती है क्योंकि समकालीन सरोकार वही थे जिनपर औपनिवेशिक और उत्तर औपनिवेशिक भारतीय समाज पूरी तरह केन्द्रित था। व्यवहार में इसका अर्थ यह भी हुआ कि इस काल को उन्हीं भारतविदों पर छोड़ दिया जाता जिनका दृष्टिकोण बेहद शास्त्रीय था और जो यह मानने के लिए कतई तैयार नहीं थी कि कुछ दूसरे इतिहास भी हो सकते हैं।

तो भी कुछ ऐसे पद प्रदर्शक कार्य हुए जिन्होंने एकाधिक तरीकों से नई जमीन की तलाश की। प्राचीन भारत में राजतंत्र के अभ्युदय के बारे में कुमकुम राय द्वारा किया गया हाल का अध्ययन इसलिए महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसमें एकदम उन्हीं स्रोतों का इस्तेमाल किया गया है जिनपर भारतविद् भी निर्भर करते थे। यानी उस काल के प्रासंगिक ब्राह्मण ग्रंथ लेकिन इनकी जाँच परख में उन्होंने एकदम भिन्न तरीका अपनाया। इस अध्ययन में समाज के विभिन्न स्तरों के बीच आपसी संबंध की भी छानबीन की गयी है ताकि उन प्रक्रियाओं का पता लगाया जा सके जिनके जरिए श्रेणीबद्धता स्थापित की गयी और ब्राह्मण ग्रंथों तथा रीति-रिवाजों का इस्तेमाल करते हुए इस श्रेणीबद्धता को वैधानिक रूप दिया गया। एक बार यह ढाँचा तैयार हो जाने के बाद राजा को राज्य के उत्पादक तथा पुनरोत्पादक संसाधनों का वैध नियंत्रक मान लिया गया। इसी के साथ यजमान को जिसकी ओर से सारे कर्मकाण्ड किए जाते थे, यह माना गया कि वह परिवार की उत्पादक और पुनरोत्पादक संसाधनों का नियंत्रक है। कुमकुम राय के इस कार्य का अत्यंत महत्त्वपूर्ण पहलू यह है कि इसने लिंगभेद आधारित इतिहास और मुख्यधारा की इतिहास के बीच के झूठे परंतु फिलहाल कामकाज की दृष्टि से जरूरी विभाजन को तोड़ दिया। इसने प्रदर्शित किया कि अगर विश्लेषण की श्रेणी में लिंगभेद संबंधी पहलू को शामिल कर लिया जाय तो अतीत की हमारी समझ को किस तरह विस्तार मिल सकता है और इसे समृद्ध बनाया जा सकता है।

अवधारणा के स्तर पर जिन अन्य मुद्दों की खोजबीन की गयी उनमें शामिल हैं जाति, वर्ग, पितृ सत्तात्मकता और राज्य के बीच संबंध तथा प्राचीन भारत में परिवार संस्था की गतिशीलता। इस तरह के अध्ययनों के अलावा जिनमें अन्य संस्थाओं के संदर्भ में लिंगभेद के संबंधों के स्तर की खोज की गयी है कुछ ऐसे अध्ययन भी हैं जिनमें मिथकों तथा अन्य आख्यानों, वेश्यावृत्ति, मातृत्व, कामगार महिलाएँ, संपत्ति संबंधों, उपहार के रूप में प्रदत्त महिलाएँ और शासकों के रूप में महिलाओं के अलग-अलग स्वरूपों का अध्ययन शामिल है। इन विवरणों ने क्रमशः एक आधार तैयार किया जिससे नयी दृष्टि विकसित की जा सके और उस परिधि को तोड़ा जा सके जिसने प्राचीन भारत के संदर्भ में महिलाओं के इतिहास को चारो तरफ से घेर कर रखा था। हमारी समझ को सीमित करने वाली एक मुख्य खामी यह रही है कि हम यह नहीं देख पाते हैं कि किसी विशिष्ट सामाजिक बनावट में किस तरह अन्य ढाँचे लिंगभेद को आकार देते हैं।

प्राचीन भारतीय इतिहास के मामले में लिंगभेद आधारित रूपरेखा को अध्ययन के लिए काम में लाया गया लेकिन मध्यकालीन भारतीय इतिहास के विश्लेषण में यह पद्धति नहीं अपनायी गयी। यहाँ तक कि महिलाओं का इतिहास जो मुख्यधारा के इतिहास के पूरक का काम करती है कभी भी योजनाबद्ध ढंग से नहीं लिखा गया। ऐसा शायद इसलिए हुआ क्योंकि जिन विद्वानों ने विश्लेषण के लिए लिंगभेद को एक उपकरण के रूप में चुना उनकी फारसी पर महारत नहीं थी जबकि मध्यकालीन भारतीय इतिहास के लिए उपलब्ध स्रोत मुख्य तौर पर फारसी भाषा में ही थे। हाल के दिनों में बहुत धीमे स्तर पर एक शुरुआत हुई है लेकिन जो काम किए गए हैं वह अवधारणात्मक न होकर काल विशेष से संबंधित हैं। अमेरिका के विद्वानों में जो लोग दक्षिण

एशिया विशेषज्ञ हैं उन्होंने इस दिशा में कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य किए हैं लेकिन इनमें से ज़्यादातर अनुभवात्मक हैं और इन्होंने विश्लेषण के लिए व्यापक मुद्दों को नहीं लिया है। लिंगभेद आधारित दृष्टिकोण को न अपनाना इसलिए भी दुर्भाग्यपूर्ण है क्योंकि मध्यकालीन भारत के स्रोतों की दृष्टि से यह बहुत महत्त्वपूर्ण है। देखा यही जाता है कि लिंगभेद की दृष्टि से कभी भी इन स्रोतों का किसी क्रम से अध्ययन नहीं किया गया। भक्तिकाल की कविता और इस काल में मीराबाई को जिस तरह कुमकुम संगारी ने अपने अध्ययन में प्रस्तुत और विश्लेषित किया वह एक उदाहरण है कि किस प्रकार मध्यकाल के भारत के साहित्य और व्यक्ति को इतिहास का रूप दिया गया। संगारी ने परिवार, नाते रिश्ते और राज्य का जो विश्लेषण प्रस्तुत किया उससे स्पष्ट संकेत मिलता है कि लिंगभेद संवेदी इतिहास का लिखा जाना संभव है। सौभाग्य की बात है कि आज इससे विविध विषयों पर अध्ययन किया जा रहा है मसलन भाषा में लिंगवाद, भू-स्वामित्व विरासत, शाही घरानों की राजनीति, बहु पत्नी वाले परिवारों में महिलाओं के विरुद्ध महिलाओं की स्थिति और बदलते हुए आख्यान जिन्होंने दुर्लभ 'विरांगना' का मॉडल प्रस्तुत किया। संभवतः इन तथा इन जैसे अन्य अध्ययनों को एक साथ मिलाया जा सकता है और इन सबको साथ लेकर मध्यकालीन भारत में लिंगभेद आधारित संबंधों की व्यापक समझ विकसित की जा सकती है।

प्राचीन और मध्यकालीन भारत दोनों में लिंगभेद संबंधी इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण खामी क्षेत्र आधारित अध्ययनों की अनुपस्थिति रही। तमिल साहित्य के कुछ अनुसंधानों और प्राचीन तथा मध्यकालीन दक्षिण भारत के कुछ अभिलेखों को छोड़ दें तो हमारे पास ऐसी बहुत कम सामग्री है जिससे विभिन्न क्षेत्रों के सामाजिक संगठनों और उनके द्वारा उन क्षेत्रों में लिंगभेद आधारित संबंधों को कोई स्वरूप देने के बीच संबंध हम स्थापित कर सकें।

महिलाओं के इतिहास के विषय में और भी व्यापक अन्वेषण औपनिवेशिक तथा उत्तर औपनिवेशिक काल में संभव हो सके। जिन भाषाओं में ये स्रोत उपलब्ध हैं वे अपेक्षाकृत ज़्यादा सुलभ हैं और इन स्रोतों को बेहतर ढंग से सँभाल कर भी रखा गया है। नतीजतन नारीवादी विद्वान न केवल इतिहास में महिलाओं को शामिल करने में सफल हुए बल्कि उन्हें विभिन्न सामाजिक-आर्थिक प्रक्रियाओं में और लिंगभेद के बीच छानबीन में भी कामयाबी मिली। वे कुछ विषयों की तह तक भी कुछ हद तक जा सके और राष्ट्रवाद, वर्ग संगठन तथा जाति संचालन के बारे में ऐतिहासिक विमर्शों में भी अपनी छाप छोड़ी।

इस अवधि में महिलाओं के इतिहास में अनुसंधान के अपेक्षाकृत जो ज़्यादा दुर्गम क्षेत्र थे, उनमें से एक उस तरीके का विश्लेषण था जिसने नये औपनिवेशिक ढाँचे में, खास तौर से कानून के क्षेत्र में, महिलाओं के जीवन को आकार दिया। उल्लेखनीय परिमाण में किए गए लेखन में कुछ विशिष्ट कानूनों के कामकाज की छानबीन की गयी मसलन विधवा पुनर्विवाह कानून, कानूनों के निर्माण और वर्गीकरण के पीछे की ताकतें और प्रेरकशक्ति, वैधानिक प्रणालियों के विभिन्न समूहों मसलन प्रचलित कानूनों और विधि सम्मत कानूनों, विधि सम्मत कानून तथा 'व्यक्तिगत' कानून के उपयोगों के बीच अंतर्विरोधों का पता लगाया गया और सामाजिक रीति-रिवाज तथा सांस्कृतिक व्यवहार की विविधता में एकरूपता लाने की दिशा में प्रयास किया गया। एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण और विस्तृत अध्ययन में बीना अग्रवाल ने इस बात पर ध्यान केन्द्रित किया है कि जमीन के रूप में उत्पादक संसाधनों को महिलाओं के लिए सुलभ बनाने से इनकार करके लिंगभेद आधारित संबंधों को कानून ने एक स्वरूप दिया। इस प्रकार उन्होंने महिलाओं की सामाजिक दुर्बलता के संदर्भ में राजनीतिक अर्थशास्त्र की एक समझ हमें प्रदान की। इनमें से कुछ अध्ययन तो अनुभवजनीत हैं जबकि अन्य अध्ययनों में ऐतिहासिक संदर्भों, वर्ग गतिशीलता और समय-समय पर उपनिवेशवादियों और राष्ट्रवादियों की विचारधाराओं में कानून के संबंध की छानबीन की गयी है। इन अध्ययनों में एक औपनिवेशिक (राष्ट्रवादी) प्रभुत्वकारी एजेंडा की संभावनाओं और सीमाओं को भी उद्घाटित किया गया है।

अनेक पुस्तकों और लेखों में महिलाओं की शिक्षा को विषय बनाया गया है। प्रारंभ में विद्वानों ने अलग-अलग चरणों के बारे में बताया है कि सामाजिक सुधार आंदोलनों का क्या संदर्भ था जिसके जरिए महिलाओं की शिक्षा के अवसर पैदा किए गए और उनका विस्तार किया गया — इसके 'सकारात्मक', मुक्तिकामी और रूपांतरकारी क्षमता को स्वीकार करते हुए। उन दिनों महिलाओं की शिक्षा के लिए पुरुषों द्वारा चलाए गए अभियान वास्तविक तौर पर 'उदारवादी' लगते थे। शायद इनमें पितृसत्तात्मकता थी लेकिन यह माना गया कि शिक्षा के जरिए ही महिलाओं को विभिन्न वंचनाओं से मुक्ति मिल सकती है। इन अध्ययनों को नयी पितृसत्तात्मकता और वर्ग संरचना की प्रक्रियाओं तथा स्कूली शिक्षा प्रदान करने के बीच के संबंध के संदर्भ में अब शिक्षा की महत्त्वपूर्ण भूमिका या दूसरे अर्थों में कहें तो 'स्कूलिंग' की भूमिका की छानबीन के लिए चुना गया है।

इस बात की भी रूपरेखा तैयार की गयी है कि महिलाओं को शिक्षा दिलाने में पुरुषों की क्या चीजें दांव पर लगी थीं और अनेक तरह के संक्रमण की प्रक्रिया में संघर्षरत परिवार में महिलाओं के प्रतिरोध का स्वरूप क्या था। महिलाओं के लेखन की बारीकी से छानबीन करके इनमें से कुछ विश्लेषणों को संभव बनाया जा सका है। चूँकि महिलाओं को साक्षरता और शिक्षा के क्षेत्र में ला दिया गया और इनमें से अधिकांश अपने पतियों की प्रेरणा से आयीं (ताकि वे अच्छी पत्नी और उपयुक्त माँ की भूमिका निभा सकें) लेकिन कभी-कभी पतियों की स्वीकृति के बगैर भी आयीं और इनमें से कुछ ने लेखन का भी काम किया। 19वीं शताब्दी के अंत के दिनों से हमें बहुत सारे पत्रों, संस्मरणों, लेखों, जीवनियों, कविता, कहानियों, यात्रा वृतांतों और समय-समय पर पितृसत्ता की सामाजिक आलोचनाएँ देखने को मिलीं जो इन महिलाओं द्वारा लिखी गयीं थी और यह क्रम 20वीं शताब्दी में भी जारी रहा। समाज सुधार की हमारी समझ कुशाग्र करने के लिए इस वैकल्पिक क्षेत्र में महिलाओं की विद्वता बहुत महत्त्वपूर्ण रही है। इतना ही नहीं इस तरह के लेखन ने उन चीजों को उजागर किया जिन्हें मुख्य धारा के इतिहास के विवरणों तले दबा दिया गया था। यह उम्मीद की जा सकती है कि 19वीं शताब्दी की महिलाओं द्वारा लिखी गयी सामाजिक आलोचनाओं को पुरुषवादी वर्चस्व की विचारधाराओं के प्रतिरोध के इतिहास के रूप में एक उल्लेखनीय स्थान दिया जाएगा। पंडिता रमाबाई और ताराबाई शिंधे जैसी महिलाओं को विदुषियों के जगत में काफी ख्याति मिली। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि रास सुंदरी देवी जैसी महिलाओं के संवेदनशील लेखन के जरिए हमारे सामने उच्च जाति के सांस्कृतिक व्यवहारों का कच्चा चिट्ठा भी खुलकर सामने आ जाता है।

इतिहास के पुनर्लेखन में कामगार महिलाओं के इतिहास को भी शामिल करने का प्रयास किया गया है। किसान संघर्षों में उनकी भागीदारी के विवरण, तथा जिन मुद्दों को उठाया गया और जिन मुद्दों को दबा दिया गया उनके बारे में महिलाओं की अनुभूति और उन 'जादू भरे' दिनों में (जैसा कि कुछ लेखकों ने लिखा है) किसानों के संघर्ष के स्थिति के अध्ययन से वर्ग और लिंगभेद से संबंधित मुद्दों के बीच जटिल संबंधों का पता चलता है तथा वर्ग उत्पीड़न एवं लिंगभेद आधारित उत्पीड़न को ऊजागर करने में वामपंथी समूहों की रणनीति का आभास होता है। नारीवादी विद्वानों ने पाया कि महिलाओं की राजनीतिक सक्रियता से संबंधित प्रारंभिक इतिहासों में केन्द्रीय महत्त्व की बात है यौन राजनीति का सवाल तथा व्यापक संघर्षों के साथ इनके जटिल संबंधों की पड़ताल – यानी ऐसे संघर्ष जिनमें महिलाओं की जरूरत थी, जिनमें उन्हें गोलबंद किया गया, उन्हें एक राजनीतिक और सार्वजनिक पहचान दी गयी और फिर भी बड़ी बारीकी से उनकी भूमिका को पचा लिया गया और अपने खुद के अधिकारों के लिए उनके काम को दरकिनार कर दिया गया।

संगठित श्रम के क्षेत्र में और खासतौर पर कपड़ा तथा जूट उद्योगों में महिलाओं की स्थिति पर अनेक पुस्तकें लिखी गयीं और फिलहाल इस तरह के कई अध्ययन जारी हैं जिनमें असंगठित क्षेत्रों में, विशेष तौर पर भूमंडलीकरण, तथा ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम के संदर्भ में महिलाओं की स्थिति की पड़ताल की गयी है। ये अध्ययन अपने ढंग के पहले अध्ययन हैं लेकिन इनमें

काफी हद तक अनुभवात्मक दृष्टिकोण अपनाया गया है। कामगार महिलाओं की रोजमर्रा की जिंदगी को दर्ज करने वाले और अध्ययनों से संभवत: हम इस योग्य हो सकें कि महिलाओं को केंद्र में रखते हुए मजदूरवर्ग के निर्माण का विवरण प्रस्तुत कर सकें। तो भी भूमंडलीकरण के इस नये युग में इतिहास इतनी तेजी से बदल रहा है कि जब तक हम उनका इतिहास लिखें इससे पहले ही मजदूरवर्ग का इतना रूपांतरण हो जाय कि उसकी पहचान भी संभव न हो।

एक ऐतिहासिक चौखटे के अंदर महिलाओं के श्रम की दास्तान लिखने के सिलसिले में जो महत्त्वपूर्ण शोध किये जा सकते हैं उनमें से एक है घरेलू श्रम का मुद्दा। नारीवादी दृष्टिकोण के लिए यह एक केंद्रीय मुद्दा रहा है और इसके नतीजे के तौर पर पश्चिम में तथा तीसरी दुनिया के देशों में अनेक विद्वतापूर्ण कार्य देखने को मिले। पश्चिम के नारीवादी विद्वानों ने पूँजीवाद के साथ इसके संबंधों पर बार बार जोर दिया। भारत में जो अध्ययन किये गये हैं उनमें घरेलू श्रम को जाति, वर्ग, वैधव्य, परिवार के अंदर श्रेणीबद्धता यानी बड़े छोटे का विभाजन और घरेलू सेवाएँ हासिल करने की परिवार की आर्थिक क्षमता को ध्यान में रखकर विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। अवधारणा के स्तर पर श्रम बाजार के साथ घरेलू श्रम के संबंधों और मजदूरी वाले कार्यों में लिंगभेद के आधार पर काम के बंटवारे को भी उजागर किया गया है भले ही यह देखने में बाजार के दायरे से बाहर की चीज क्यों न लगती हो। इस तथ्य पर भी संगारी ने ध्यान दिलाया है कि 'घरेलू श्रम एक ऐसे अविच्छेद गैर अनुबंधात्मक विवाह प्रणाली के भीतर स्थित है जो सेवा तथा त्याग की विचारधाराओं से उत्प्रेरित है और जिसका अर्थ यह है कि घरेलू श्रम तथा घरेलू विचारधाराएँ न केवल साथ-साथ रह सकती हैं बल्कि अत्यंत तेजी से बदलती हुई आर्थिक और सामाजिक प्रणाली में भी वे संयुक्त रूप से पुनरोत्पादन कर सकती हैं।'

इससे पहले इसी आलेख में यह सुझाया गया है कि स्रोतों के इस्तेमाल में तथा उनके पाठन में नारीवादी विद्वता को नई-नई खोज करने वाला होना चाहिए। इस तरह की दृष्टिकोण को ध्यान में रखें तो हाल के दिनों में बेहद सफल कार्य में विभिन्न स्रोतों का इस्तेमाल किया गया है जिनमें आंकड़ों तथा सरकारी रपटों जैसे परंपरागत स्रोत शामिल हैं लेकिन इन्हें लोक साहित्य, लोक मुहावरों और फील्ड वर्क से संतुलित किया गया है ताकि अपनी खुद की जिन्दगी के बारे में महिलाओं की अनुभूति को समझा जा सके। प्रेम चौधरी द्वारा लिंगभेद आधारित राजनीतिक अर्थव्यवस्था के जिस ढाँचे का इस्तेमाल किया गया है उसके नतीजे के तौर पर पिछले सौ वर्षों के दौरान एक किसान जाति की कामगार महिलाओं के रोजमर्रा के अनुभवों का महत्त्वपूर्ण अध्ययन प्राप्त हुआ है।

विभाजन के इतिहास के क्षेत्र में नारीवादी इतिहासकारों द्वारा सरकारी तथा मुख्यधारा / पुरुषवादी धारा और अभिजनों के इतिहासों के पूर्वाग्रहों तथा इनकी अपर्याप्तता की आलोचना करने में मौखिक इतिहास का इस्तेमाल अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। यहाँ एक वैकल्पिक इतिहास लिखने में महिलाओं ने अग्रणी भूमिका निभायी है और इस इतिहास को उन लोगों के नजरिए से लिखा गया है जो हाशिए पर पड़े हैं: महिलाएँ, बच्चे और दलित। इन्होंने समुदाय की अवधारणा के संदर्भ में राज्य की विचारधारा को लेकर निर्णायक सवाल उठाए हैं और 'अपहृत' महिलाओं की वापसी तथा पुनर्वास के संदर्भ में उनके सम्मान को लेकर सवाल खड़े किए हैं। साथ ही इन्होंने हिंसा के उन दोहरे आयामों की चर्चा की है जो महिलाओं को पहले तो पुरुषों द्वारा और फिर पितृ सत्तात्मक राज्य के हाथों झेलना पड़ता है। जिसने समुदायों के साथ जब अपने दायरे निर्धारित करने के प्रयास किया तो राज्य ने हमेशा इससे इनकार किया। यह महत्त्वपूर्ण है कि नारीवादी विद्वानों ने किसी नए राष्ट्र के जन्म लेते ही राष्ट्रवाद की योजनाबद्ध आलोचना प्रदान की है। उनके इन महत्त्वपूर्ण कामों को मान्यता देने की तो बात दूर रही, राष्ट्रवाद तथा उत्तर औपनिवेशिक भारतीय राज्य की उनकी आलोचना को भी मुख्यधारा के इतिहासकारों ने अभी तक गंभीरता से नहीं लिया है। ऐसा शायद इसलिए है क्योंकि शैक्षणिक क्षेत्र में मुख्यधारा/पुरुष प्रधान धारा के इतिहासकारों ने अपना इलाका निर्धारित कर लिया है और इतिहास विषयक लेखन पर अपनी पकड़ बनाए रखने में उनके व्यक्तिगत स्वार्थ जुड़े हुए हैं। इसके अलावा मेरे विचार

से यह उस एजेंडा का हिस्सा है जिसके तहत किसी नए क्षेत्र में महिलाओं के पथ प्रदर्शक कामों को मिटा दिया जाय और एक बार फिर उन्हें हाशिए पर डाल दिया जाय ताकि सिद्धांत पर मौलिकता और एकाधिकार का ठप्पा लगा रहे। विश्व विद्यालयों में सर्वोच्च स्तर पर नियुक्तियों के संदर्भ में नारीवादी विद्वानों की हालत अगर देखें तो इस स्थिति के राजनीतिक आयामों पर गंभीरता से विचार करने की जरूरत है।

महिलाओं की शक्ति का मुद्दा नारीवादी विद्वानों से संबंधित व्यापकतर मुद्दों का एक हिस्सा है और फिलहाल इसका प्रायः सरलीकरण कर दिया जाता है। एक अलग तरह का इतिहास लिखने की इच्छा ने नारीवादी विद्वानों को इस बात के लिए प्रेरित किया है कि वे व्यक्तिगत और सामूहिक तौर पर महिलाओं द्वारा किए गए प्रतिरोधों के इतिहास की खोज करें और तोड़-फोड़ तथा महिलाओं पर पुरुषों के दबदबे जैसी रणनीतियों के उनके इस्तेमाल का पता लगाएँ। प्रतिरोध, तोड़फोड़ आदि की घटनाओं का दस्तावेज तैयार करना महत्त्वपूर्ण तो है ही कभी-कभी इन घटनाओं का जश्न मनाना इन्हें सरलीकृत कर देना होता है। महिलाओं की शक्ति अथवा उनके माध्यम के कुछ उदाहरण निश्चित रूप से महत्त्वपूर्ण हो सकते हैं लेकिन तोड़-फोड़ के सभी उदाहरणों को, मसलन लखनऊ के तवायफों द्वारा इस्तेमाल की गयी रणनीतियों को कभी भी विद्रोह नहीं कहा जा सकता क्योंकि इस तरह की घटनाओं ने पितृसत्तात्मक विचारधारा को ही और मजबूत किया। यह भी ध्यान रखना बहुत जरूरी है कि खास तौर पर भारत में नारीवादी लेखन के संदर्भ में किसी भी क्रिया के राजनीतिक नतीजों तथा सैद्धांतिक सूत्रीकरण का स्वरूप क्या है। हाल के लेखन ने महिलाओं की शक्ति की खोज करने का एक परिप्रेक्ष्य प्रदान किया है। संरचना और शक्ति के बीच द्वंद्वात्मक संबंधों के लिए जरूरी है कि इसकी छानबीन की जाय और संरचना तथा शक्ति को अगर ऐसी प्रक्रिया के रूप में देखें जो एक दूसरे को मदद पहुँचाती है तो यह लाभदायक होगा। यह भी ध्यान में रखने की जरूरत है कि सामाजिक प्रणालियाँ कुछ सीमाएँ निर्धारित करती हैं और मानवीय क्रियाओं पर दबाव डालती हैं। महिलाओं ने भी इस बात को समझ लिया है कि शक्ति का अस्तित्व शून्य में नहीं होता।

17.6 सारांश

इस निबंध के पूर्ववर्ती खण्डों में लिंगभेद संवेदी दृष्टिकोण से इतिहास-लेखन से जुड़े कुछ मुद्दों की रूपरेखा प्रस्तुत की गयी है और महिलाओं के इतिहास के क्षेत्र में अवधारणा के स्तर पर किए गए कुछ महत्त्वपूर्ण कार्यों पर ध्यान दिया गया है। अभी भी बहुत सारे क्षेत्र ऐसे है जिनका अन्वेषण किया जाना है जैसे दलित महिलाओं का इतिहास और अनेक ऐसे मुद्दे भी हैं जिनका सैद्धांतिक पक्ष विकसित होना है मसलन जाति और लिंगभेद के बीच संबंध। उन संरचनाओं की भी बहुत सख्ती के साथ रूप रेखा तैयार करने की जरूरत है जिनके अंतर्गत महिलाओं का उत्पीड़न किया जाता है। इस संदर्भ में नारीवादी विद्वानों के लिए अपने अनुसंधान में व्यापक होना बहुत जरूरी है और उन्हें ऐसे सैद्धांतिक दृष्टिकोणों तक खुद को सीमित नहीं कर देना चाहिए जो किन्हीं खास अवस्थितियों में विद्वता पर अपना प्रभुत्व स्थापित करें। नारीवादी विद्वानों के लिए यह जरूरी है कि उत्तर आधुनिकतावाद जैसे फिलहाल बहुत प्रचलित सिद्धांतों द्वारा उनके एजेंडा को छीनने की जो कोशिश हो रही है उसका वे प्रतिरोध करें। भारतीय संदर्भ में इसका इस्तेमाल पूर्व-औपनिवेशिक समाज तथा 'समुदाय' और 'परिवार' जैसे पूर्व-आधुनिक संस्थाओं, जो औपनिवेशिक सत्ता के दायरे से बाहर रहे हों, का गौरवगान करने में किया जाता है। यहाँ इस बात का उल्लेख ज़रूरी है कि नारीवादी लेखन में समुदाय और परिवार के प्रति आलोचनात्मक रवैये की लम्बी परम्परा रही है। इस तरह के लेखन की दिशा अब ऐसे लेखन द्वारा बदल दी गई है जो आधुनिक-पूर्व आधुनिक के विभाजन की विचारधारा तक सीमित है। इसके अलावा अब सारा जोर संस्कृति पर है। उत्तर आधुनिकतावादी विचारधारा से प्रभावित विद्वान् किसी भी ऐसे शोधकार्य के खिलाफ प्रतीत होते हैं जो महिलाओं के दमन से जुड़ी संरचनाओं की खोज करता है। संभवतः 'महिलाओं की संस्कृति' पर जोर देने से इन विद्वानों को यह अवसर मिलता

है कि परिवार के दायरे में ही महिलाओं की खुशी तलाश सकें और अन्य चीज़ों को नकार दें। लेकिन उन लोगों के लिए जो पितृसत्ता के प्रभाव के भुक्तभोगी हैं, यह समझना जरूरी हो जाता है कि दमन को बरकरार रखने वाली संस्थायें और प्रक्रियायें कौन-सी हैं। महिलावादी विद्वानों के लिए संदर्भ से बाहर जाकर संस्कृति पर जोर देना ठीक नहीं है।

17.7 अभ्यास

1) महिलावादी इतिहास-लेखन के विभिन्न लक्षणों की चर्चा कीजिए।

2) महिलावादी आंदोलन और लिंगभेद-संवेदी इतिहास के बीच क्या संबंध है?

3) परंपरागत इतिहास-लेखन में महिलाएँ क्यों अनुपस्थिति रही हैं?

17.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

कुमकुम संगारी और उमा चक्रवर्ती (सम.), *फ्राम मिथ्स टू मार्केट्स : एसेज ऑन जेंडर* (शिमला, इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ एडवांस्ड स्टडीज़, 1999)

उमा चक्रवर्ती, *रिराइटिंग हिस्ट्री : दि लाइफ एंड टाइम्स ऑफ पंडिता रमाबाई* (दिल्ली, काली फार विमेन, 1998)

कुमारी जयवर्दना और मालती डि अल्विस, *एम्बाडीड वायलेंस : कम्यूनलाइजिंग विमेन्स सेक्सुअलिटी इन साउथ एशिया* (दिल्ली, काली फार विमेन, 1996)

विजया रामास्वामी, *डिवाइनिटी एंड डिविएन्स* (दिल्ली, ओ.यू.पी., 1994)

जानकी नायर, *विमेन एंड लॉ इन कोलोनियल इंडिया* (दिल्ली, काली फार विमेन, 1996)

कुमकुम संगारी और सुदेश वैद (सम.), *रिकास्टिंग विमेन : एसेज इन कोलोनियल हिस्ट्री* (दिल्ली, काली फार विमेन, 1989)

इकाई 18 इतिहास में नस्ल

इकाई की रूपरेखा

18.1 प्रस्तावना

बीसवीं शताब्दी के बारे में एक निराशाजनक भविष्यवाणी अश्वेत अमेरिकी विद्वान् डब्ल्यू. ई. बी. दुबुआ के द्वारा 1903 ई. में किया गया जब उन्होंने कहा था कि 'बीसवीं शताब्दी की समस्या रंगभेद की समस्या है – एशिया और अफ्रीका में तथा अमेरिका और समुद्री उपमहाद्वीप में अश्वेत और श्वेत लोगों के बीच संबंध।' इन्हीं शब्दों को ध्यान में रखकर शायद दूसरे अश्वेत विद्वान् स्टुअर्ट हॉल, जो अब ब्रिटिश नागरिक हैं, ने कुछ वर्ष पहले कहा कि 'मेरे विचार में, मतभेद के साथ रहना, इक्कीसवीं शताब्दी के आने वाले प्रश्न हैं।'

18वीं और 19वीं शताब्दी के दासता के विरुद्ध आंदोलन ने मानव नस्लों के विज्ञान के लिए बीसवीं शताब्दी में एक संदर्भ प्रदान किया। यहाँ यह याद रखना महत्त्वपूर्ण है कि जहाँ दुबुआ की पीढ़ी के विद्वानों के लिए नस्लीय प्रभुत्व के सांस्थानिक प्रतिरूप में 'रंगीय भेद' दैनिक जीवन का वास्तविक आधार था, हाल के समयों में नस्ल और नस्लवाद के प्रश्न फिर से फैशन में आ गए हैं इस तरीके से कि वे सांस्कृतिक भेद पर अधिक जोर देते हैं। संकल्पनात्मक भाषा में बदलाव, जो पिछले तीन दशकों से नस्ल के विश्लेषण के लिए प्रभावी रहे हैं, नस्लवाद के बारे में बड़े विवाद के संकेत हैं और ये साथ ही साथ राजनीतिक और नीति निर्धारक कार्यसूचियों के बारे में भी सूचित करते हैं।

18.2 नस्ल एक राजनीतिक और सामाजिक संरचना

एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक मामले के रूप में नस्ल और नस्ल संबंधों के बारे में गहन अध्ययन बीसवीं शताब्दी के पूर्व भाग में पाया जा सकता है। इस क्षेत्र में विद्वता और अनुसंधान का विस्तार 1960 ई. के आसपास हुआ, सामाजिक परिवर्तन के परिणामस्वरूप नस्ल के बारे में प्रश्न उस

दशक के दौरान उठा। यह वह समय था जब सामाजिक सुधार जन अधिकार आंदोलन, शहरी अशांति, अश्वेत सत्ता के विचार का विकास और सांस्कृतिक राष्ट्रवाद लागू हुआ। इसने वृहद् रूप से नस्ल की राजनीति को न सिर्फ अमेरिका में, अपितु दुनिया के दूसरे देशों में भी नया आकार दिया।

1960 के दशक के दौरान ही 'नस्लीय संबंध की समस्या' इस क्षेत्र में प्रमुख सिद्धांत बना। एक तथ्य के रूप में नस्ल सामाजिक संबंध को 'मानव जातीय' विचार से बाँध देती है और प्रदत्त समाजों में कई समूहों के बीच सामाजिक रेखा खींच देती है। नस्ल की धारणा प्रव्रजन और प्रवास की प्रक्रिया को समझने में भी प्रयोग की गई है। उन्हें कई बार अल्पसंख्यक, मानवजातीय या अप्रवासी समस्या के रूप में भी दिखाया गया है।

जॉन रेक्स का नस्ल संबंधों के बारे में विश्लेषणात्मक प्रारूप के अनुसार, व्यक्तियों के बीच सामाजिक संबंधों को नस्ल संबंधों के रूप में देखना कुछ संरचनात्मक स्थितियों के कारण है :

1) अस्वतंत्र, अनुबंधित या दास मज़दूर

2) असाधारण निष्ठुर वर्ग शोषण

3) समूहों में सख्त वैधानिक विभेद और रोज़गार में असमता

4) सत्ता तक असमान पहुँच

5) लघु समूह के रूप में प्रवासी मज़दूर की महानगरीय व्यवस्था में निंदित भूमिका।

इस संदर्भ में, रेक्स अपने अध्ययनों में विस्तार से बताते हैं कि किस स्तर पर अप्रवासी जनसंख्या अपने श्वेत पड़ोसियों और आम श्वेत कामगारों के साथ अपनी वर्ग-पहचान खोजते हैं। उनके विश्लेषण ने वर्ग संरचना को रेखांकित किया जिसमें ट्रेड यूनियन तथा लेबर पार्टी के माध्यम से मज़दूर आंदोलनों के द्वारा श्वेत कामगारों ने कुछ अधिकार प्राप्त किए। लेकिन अश्वेत कामगार उस बातचीत की प्रक्रिया के बाहर रखे गए जिससे श्वेत कामगारों की स्थिति को ऐतिहासिक रूप से बल मिला। उन्होंने सभी क्षेत्रों में भेदभाव अनुभव किया जहाँ कामगारों को महत्त्वपूर्ण लाभ प्राप्त हुए, जैसे रोज़गार, शिक्षा और रहने की व्यवस्था। इस तरह, अप्रवासी अश्वेत मज़दूरों की स्थिति ने उन्हें कामगार समूहों के बाहर 'अधीन समूह' की स्थिति ला खड़ा किया।

रॉबर्ट माइल्स ने भी अप्रवासी समुदायों की स्थिति के बारे में अवलोकन किया है, किंतु उन्होंने इसे 'वास्तविक आर्थिक संबंधों' के संदर्भ में किया है। उनके बीच एक विरोधाभास है : 'एक तरफ मनुष्यों की गतिशीलता का पूँजीवादी विश्व अर्थव्यवस्था की आवश्यकता, और दूसरी तरफ मानवीय गतिशीलता के लिए क्षेत्रीय सीमा का रेखांकन।'

उनका महत्त्वपूर्ण योगदान यह तर्क है कि नस्लें राजनीतिक और सामाजिक नियामक के संदर्भ में बनाई जाती हैं, और इसलिए नस्लें मूल रूप से 'राजनीतिक' संरचना हैं।

हमारे उद्देश्य के लिए पहला तर्क यह है कि नस्ल की अवधारणा मानव संरचना है, समाज के भीतर नियामक सत्ता के साथ एक विचारधारा। 'नस्ल' और नस्ल-संबंध का प्रयोग, एक विश्लेषणात्मक संकल्पना के रूप में, भेद के **सामाजिक** संरचना को छुपाता है और इसे आनुभाविक वास्तविकता में अंतर्निहित करके प्रस्तुत करता है या जैवीय भेद के रूप में प्रस्तुत करता है। विशिष्ट सामाजिक प्रक्रिया या विशिष्ट सामाजिक क्रिया जैसे प्रभुता की रक्षा, अधीनीकरण और विशेषाधिकार के परिणामस्वरूप नस्लीय समूह बनते हैं।

नस्ल विरोधी संघर्ष का आधार अब सामाजिक समता नहीं रह गया है अपितु सांस्कृतिक भिन्नता बन गया है। समानता को अब फिर से परिभाषित करने का समय आ गया है – 'बराबर होने के अधिकार' से 'अलग होने के अधिकार' पर। छठे और सातवें दशक में, समान अधिकारों के

लिए संघर्ष का अर्थ होता था अप्रवासी कानूनों के विरुद्ध अभियान या नियोजन के विरुद्ध अभियान जिसके द्वारा कई तरह की नस्लें अलग तरीके से प्रस्तुत की जाती थीं। आज इसका मतलब है अलग विद्यालय और अलग भाषाओं के प्रयोग की माँग, तथा विशिष्ट सांस्कृतिक व्यवहार के बनाए रखने पर बल। अश्वेत अधिकार के कार्यकर्ताओं ने तर्क दिया है कि अतीत में जनअधिकार सुधार ने इस विचार पर बल दिया कि अतीत में अश्वेत लोगों की मुक्ति इस आधार पर परिभाषित होती थी कि किस स्तर तक अश्वेत लोगों ने श्वेत (गोरे) लोगों की तुलना में विशेषाधिकार और भौतिक सुविधाओं के अवसर प्राप्त किए हैं – नौकरी, घर, विद्यालय आदि। यह रणनीति कभी भी मुक्ति न ला सकी क्योंकि समानता के ऐसे विचार श्वेत उपनिवेशवादियों की जीवन-शैलियों तथा उनके मूल्यों और व्यवहार के अनुकरण पर आधारित थे।

समकालीन समय में नस्ल, नस्लवाद और नस्लीय संबंध की संकल्पना को अवस्थित करने के लिए और बीसवीं सदी में इन शब्दों को समझने के प्रयास में, हमें उन्नीसवीं सदी में जाना होगा जब चार्ल्स डार्विन ने इस कार्य के लिए एक महत्त्वपूर्ण प्रारूप प्रदान किया था। उनकी धारणाएँ महत्त्वपूर्ण हैं चूँकि उन्होंने तुरंत ही स्व-नियुक्त सामाजिक डार्विनवादियों को बढ़ावा दिया, जो काफी हद तक डार्विन के विज्ञान से संबंधित अवयव को नष्ट करने के लिए और उपनिवेशवाद तथा साम्राज्यवाद की प्रामाणिकता को सिद्ध करने के लिए जिम्मेदार थे।

18.3 नस्ल और विज्ञान

जैसा कि नैन्सी स्टीफन कहती हैं, यह अन्वेषकों द्वारा लिखित प्रारंभिक यात्रा साहित्य था जो नस्ल पर वैज्ञानिक पाठ की तरह इस्तेमाल हुआ। जब यह स्वयं उभरा, नस्लीय विज्ञान 'अपमार्जक विज्ञान' था जो हाथ में आने वाली सभी सामग्री का भक्षण करता चला गया। ऐसे नस्लीय विज्ञान का एक राष्ट्रीय चरित्र भी था। वृहद् स्तर पर, नस्लीय विज्ञान का इतिहास सामान्य रूप में विज्ञान के समायापन की श्रृंखला है, इस गहरे विश्वास के साथ कि मानव-समूह की असमानताएँ 'प्राकृतिक' हैं।

1850 ई. का नस्लीय विज्ञान बाइबिल पर कम निर्भर था, वह अधिक वैज्ञानिक था, पर नस्लीय भी अधिक था। इसने स्वयं को भौतिक प्रकारता, नस्लीय सटीकता, और नस्लीय प्रकारता के स्थायित्व से तैयार किया था। 19वीं शताब्दी में नस्ल-निर्धारण के लिए खोपड़ी हर तरह से निर्णायक बनी, और प्रारंभिक 20वीं शताब्दी में, मानसिक विभेदों के रूप में खोपड़ियों के विभिन्न आकार को संकेतित किया गया।

18.3.1 नस्लीय विज्ञान में विकास की संकल्पना

डार्विन विकासवादी सिद्धांत का प्रतिपादक था, और उसका मुख्य तर्क मनुष्य और पशु के बीच में सातत्य था, जिनमें विभेद जाति के आधार पर नहीं अपितु स्तर के आधार पर हैं। फिर भी, तकनीकी, औद्योगिक और उच्च सभ्य यूरोपियों और जानवरों के बीच दूरी बहुत अधिक लगती थी। इसलिए डार्विन ने 'निम्नतर' नस्लों या 'जंगलियों' को मनुष्य और जानवर के बीच अंतर को पाटने के लिए उदाहरण के तौर पर लिया। बाद के वैज्ञानिकों ने इस तर्क को नस्लों के विकासवादी पैमाना बनाने में प्रयोग किया कि नस्लवादी अनुक्रम के साथ दूसरे सामाजिक अनुक्रम प्राकृतिक क्रम के अनुरूप थे। यहाँ यह स्पष्ट है कि डार्विन ने अपने तर्क के लिए मनुष्यों के विकास पर नस्लों की अवधारणा को नए अर्थों में स्वीकार नहीं किया, बल्कि पुराने अर्थों में ही स्वीकार किया। लेकिन सारांशत: डार्विन ने स्वयं पुराने नस्लीय विज्ञान को नए विकासवादी विज्ञान के काम में लाने का कार्य किया। विकासवाद नस्लों की पुरातनता और स्थिरता की दृष्टि से मेल रखता है।

फिर भी, यह याद किया जाना चाहिए कि जहाँ तक दासता के सामाजिक स्थिति का प्रश्न है, डार्विन दासता विरोधी था न कि नस्लवादी। यह दुविधा दूसरे विचारकों में भी मौजूद थी।

उदाहरण के लिए, प्रिचार्ड ने अपने समय के नस्लीय पूर्वाग्रह में यकीन किया, किंतु वह दासता-विरोधी था, अफ्रीकी लोगों की मानवीयता में विश्वास रखता था, और अपने ईसाई विश्वास के तहत समस्त विश्व के लोगों की मानसिक एकता में विश्वास रखता था।

विकासवादी विचार मानव नस्लों के पदानुक्रम के अनुरूप हैं, जिसने पुरानी नस्लीय अवधारणा को और मजबूत किया, और उसे संघर्ष तथा उत्तर जीवन ['अस्तित्व के लिए संघर्ष', और 'योग्यतम की उत्तरजीविता' (सर्वाइबल ऑफ दि फिटेस्ट) डार्विन के दो मुख्य सिद्धांत हैं] की नई वैज्ञानिक शब्दावली भी दी।

डार्विन ने प्राकृतिक चयन का सिद्धांत सांस्कृतिक, बौद्धिक और नैतिक विकास के लिए लागू किया। प्राकृतिक चयन ने कुछ प्रमुख नस्लों जैसे यूरोपीय नस्ल को सांस्कृतिक और नैतिक जीवन के उच्च बिंदुओं पर लाया। वह वैलेस के विचार से सहमत था कि बौद्धिकता के आने के बाद नस्लों के बीच संघर्ष मुख्य रूप से बौद्धिक और नैतिक बन गया। बौद्धिक और नैतिक रूप से कम योग्य नस्लें समाप्त हो गईं और बाकी नस्लें पूरे विश्व भर में फैल गईं। यह प्राकृतिक संघर्ष था जिसने 'जर्मेनिक नस्लों की अद्‌भुत बौद्धिकता' को उत्पन्न किया। डार्विन ने इस विचार को लिया कि प्राकृतिक चयन व्यक्तिगत और नस्लीय भेद पर कार्य करके उपयुक्त नस्लों को चुनता है और उन्हें सभ्यता के पैमाने पर ऊँचा उठाने का कार्य करता है। डार्विन को यह विश्वास तर्कसंगत लगा कि जैसे प्राकृतिक चयन से ही जानवरों से होमोसेपियन्स अर्थात् मनुष्य उत्पन्न हुए, उसी तरह बर्बरता से ऊपर जाकर सभ्य नस्लों को पैदा करने के लिए प्राकृतिक चयन प्राथमिक कारक था।

प्रसंगवश, यहाँ यह बताया जा रहा है कि औषधियों के क्षेत्र का विकास चयन प्रक्रिया पर एक बड़े आक्रमण के रूप में देखा गया क्योंकि जैविक रूप से अस्वस्थ वनस्पतियों को जीने दिया उनकी वही अस्वस्थता नई पीढ़ी को भी दे दिया। किसी भी तरह, औषधियों के विकास ने प्राकृतिक चयन के भौतिक आधार को अनावश्यक बना दिया, और इसके बदले में एक स्थिति ऐसी ला दी कि जिसमें मानव समूहों की नैतिकता और बौद्धिकता के आधार पर प्राकृतिक चयन प्रस्तावित किया।

विकसित होते हुए तुलनात्मक शरीर रचना विज्ञान और जीव-विज्ञान ने मानव नस्लों के बारे में वर्तमान विचारों को मान्यता प्रदान किया। विकासवादी मानव-विज्ञानी के लिए यह चुनौती थी कि मनुष्य के विकासवादी विचार का मनुष्य और पशुओं के बीच सातत्य के आधार पर समर्थन करे, बिना मानव नस्लों के पदानुक्रम पर विश्वास किए और अध्यात्म से हटकर। यह वैलेस थे जिन्होंने सर्वप्रथम मानव और पशु के बीच भेद पर बल दिया तब यह देखने में कामयाब हुए कि मानव-विकास अवश्यंभावी नहीं था, बल्कि वह अनुकूल सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों पर निर्भर था। उन्होंने यह मूलभूत आधार सिद्धांत दिया कि नस्लीय सभ्यताओं में अत्यधिक भेद अलग अनुभवों और भिन्न इतिहास के कारण था, न कि लोगों के भिन्न जैवीय भेद समूहों के कारण।

डार्विन के विकास सिद्धांत ने किसी-न-किसी रूप में पूरी दुनिया में जड़ पकड़ लिया। मध्य 19वीं शताब्दी का आम विश्वास जिससे इंग्लैंड में वोग्ट और फ्रांस में टोपीनार्ड जैसे विचारक प्रभावित थे यह था कि नस्लीय विशेषताएँ जीवन के लिए संघर्ष की प्रक्रिया में चयन से उभरा। उन्होंने आगे प्रस्तावित किया कि समय के साथ ये विशेषताएँ आनुवंशिकता में जड़ीभूत हुईं और बाद में स्थायी हो गयीं। इसलिए नस्लों के बारे में स्थिरता और अपरिवर्तनीयता के झूठे विचार बड़े पैमाने पर विश्वास बन गए। हालाँकि कोई ऐसा व्यक्ति नहीं मिलेगा कि जो मिश्रित न हो, नस्लीय 'प्रकार' में विश्वास वैसा ही रहा। 'प्रकारों' के बीच विभेद को मापने के लिए नए से नए उपयुक्त औज़ार खोजे गए। यह भुला दिया गया कि आवश्यक रूप से, मानव जाति घुमंतू थी और मिश्रित होने को बाध्य थी और इसलिए लगातार परिवर्तित होती रही।

वैलेस के महत्त्वपूर्ण हस्तक्षेप के बावजूद, नस्लें लगातार प्राकृतिक रूप में ही देखी गईं, और उत्तमता की स्थिर श्रृंखला, स्नायविक संगठन, खोपड़ी के आकार या मस्तिष्क के आकार के आधार पर बनी। रंग नस्लों की पारंपरिक और सुविधाजनक कसौटी थी, क्योंकि इसके लिए मानव विज्ञानी के द्वारा मूल्यांकित किए जाने के लिए व्यक्ति के अनुमति की आवश्यकता नहीं थी। माने हुए प्रकार (जहाँ तक कि सिर और नाक के आकार का प्रश्न है) से थोड़ा भी अंतर मापने के लिए अधिक से अधिक उपयुक्त औज़ार की आवश्यकता पड़ी। इसके परिणाम कभी भी संदेहास्पद नहीं थे और नस्लीय प्रकार का प्रभावशाली विश्लेषण जिसने हमेशा सिर के आकार को विभेदित पाया, उदाहरण के लिए यह माना गया कि कई नस्लीय प्रकार मिश्रित थे, बजाय इसके कि यह माना जाय कि ये विश्लेषण ही संदेहास्पद थे।

विज्ञान जो मानवमाप के काम में लगा उसे मानवमिति कहा गया, यद्यपि इसका प्रयोग नस्लों के पदानुक्रम को सिद्ध करने के लिए हुआ और इसीलिए यह सभी व्यावहारिक उद्देश्यों के लिए एक छद्म विज्ञान बना रहा।

18.3.2 सुजनन विज्ञान और नस्लीय विज्ञान

उद्देश्यपूर्ण विषय बनने के क्रम में, विज्ञान को मानव-अस्तित्व और मानवीय मामलों में एक भूमिका अदा करनी थी, यहाँ तक कि सह-निवास के क्षेत्र में भी। सुजनन विज्ञान सर्वप्रथम 1883ई. में चार्ल्स डार्विन के संबंधी फ्रांसिस गैल्टन के द्वारा विज्ञान में पहली बार प्रयुक्त हुआ। वह सुजनन विज्ञान को परिभाषित करते हैं : 'सामाजिक नियंत्रण के अधीन शाखाओं का अध्ययन जो भावी पीढ़ी के नस्लीय गुणों को भौतिक या मानसिक रूप से सुधार सके या बना सके।'

सुजनन विज्ञान अपनी मूल कल्पना में एक विज्ञान था और मानव जाति के चयनित जनन द्वारा नस्लीय सुधार का सामाजिक कार्यक्रम था। यद्यपि शुरू में ब्रिटेन में इसकी मान्यता कम थी, बीसवीं शताब्दी के पहले वर्षों में, सुजनन विज्ञान ने अपने को इंग्लैंड में सांस्थानिक रूप से स्थापित कर लिया था। 1920 के दशक तक, यह विश्वस्तरीय आंदोलन के रूप में विकसित हो चुका था, और सुजनन तथा विज्ञान के रूप में रूस जापान और अमेरिका स्थापित हो चुका था।

प्रारंभिक जर्मन नाजी योजना नस्लीय मूल को सुधारने की थी – मानसिक विक्षिप्त, आनुवंशिक अपराधी एवं आनुवंशिक अस्वस्थ लोगों को खत्म करना था। फिर भी, नस्लीय सोच का एक नया युग आया जो 1930 के दशक तक चला, जब बलपूर्वक नसबंदी और नाजी जर्मनी में यहूदियों तथा जीप्सियों का व्यापक नरसंहार (कुछ हद तक सुजनन विज्ञान के नाम पर) ने दुनिया भर में घोर प्रतिक्रिया को जन्म दिया।

नाजी जर्मनी में सुजनन विज्ञान का प्रयोग खास तौर से बर्बर था। यह उद्धृत करने लायक है कि न सिर्फ जर्मनी में बल्कि पूरी दुनिया में इस असंगत सामाजिक कार्यक्रम को मानने वाले मुख्य रूप से विकासशील मध्यवर्ग के लोग थे : डॉक्टर, मनोविज्ञानी, जीव-विज्ञानी, और समाज-सुधारक और न कि राजनीतिज्ञ या व्यापारी। अपनी पूर्ण विकसित अवस्था में, सुजनन विज्ञान ने अपने कार्य में उन दिनों के प्रमुख वैज्ञानिकों को काफी संख्या में सीधे या बेसीधे तौर पर शामिल किया, और नस्लीय परंपरा के प्रसारण के लिए एक नया रास्ता प्रदान किया। नस्ल विज्ञान और नस्लवाद के विद्यार्थियों के लिए, सुजनन विज्ञान आवश्यक था क्योंकि इसने नस्ल को आनुवंशिकतावाद और आनुवंशिकी के एक नए विज्ञान से जोड़ा।

बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में, सामाजिक और राजनीतिक रूप से कई कारकों ने सुजनन विज्ञान का समर्थन किया। मध्य उन्नीसवीं शताब्दी का सामाजिक आशावाद शताब्दी के अंत तक निराशावाद में बदल गया था जिसकी पूर्ण अभिव्यक्ति गैल्टन के सुजनन विज्ञान के रूप में हुई।

1880 का दशक आर्थिक दबाव, बेरोजगारी, हड़ताल और बढ़ते राजनीतिक अतिवाद के कारण विशेष रूप से कठिन काल था। राजनीतिक घटनाओं और समाजशास्त्रीय अध्ययन से यह साफ था कि गरीबी, शराबखोरी और अस्वस्थता ब्रिटेन से समाप्त नहीं हुये थे, इसके बावजूद कि यह कई विद्वानों को सामाजिक कानूनों के दशक लगे थे। 1899-1900 में दक्षिण अफ्रीका के बोअर युद्ध में ब्रिटिश लोगों का शारीरिक रूप से विकृत होने के संत्रास को जन्म दिया और इस बात पर जोर दिया कि ब्रिटेन के साम्राज्यवादी उद्देश्य को क्षति पहुँचेगी, लोगों को एक न करने के कारण तथा स्वस्थ न रखने के कारण। अति महत्त्वपूर्ण रूप से, गिरता जन्म-दर, और मध्य-वर्ग तथा कामगार वर्ग के बीच जन्म-दर का अंतर ने कुछ लोगों के मन में यह आशंका जगाई कि ब्रिटेन जैविक रूप से 'अस्वस्थ' लोगों से भर जाएगा।

सुजनन विज्ञान इस विश्वास पर टिका था कि लोगों और नस्लों के बीच में मानसिक, नैतिक और शारीरिक गुणों का अंतर आनुवंशिक है। उन्नीसवीं सदी की शुरुआत से ही नस्ल जीवविज्ञान में ऐसा विश्वास था। जिस बात ने आधुनिक युग में सुजनन विज्ञान को ताकत दी वह था डार्विनवादी विकासवाद से उसका संबंध। इसलिए सुजनन विज्ञान ने अपना वैज्ञानिक प्रमाणपत्र आनुवंशिकता के नए विज्ञान से प्राप्त किया। एक सामाजिक और राजनीतिक आंदोलन के रूप में इसने समर्थन और कुख्याति प्राप्त की कई नए और लगभग विस्फोटक विषयों से जिसे इसने जैविक और सामाजिक बहस के रूप में छेड़ा जैसे कि मानव समाज के 'अपविकास' का जीववैज्ञानिक मूल था 'अयोग्य' व्यक्तियों की नसबंदी'। उच्च राष्ट्रवाद के काल में, साम्राज्यवादी प्रतियोगिता, और सामाजिक डार्विनवाद, जैसे विचार कुछ समय के लिए घातक साबित हुए उन लोगों के लिए जो परिवर्तन की ओर आकर्षित थे।

सुजनन विज्ञान के झंडे के नीचे, मानव आनुवंशिकता के विज्ञान ने स्पष्ट कार्यक्रम प्राप्त किया— जिसका उद्देश्य था कि मानव समूहों में पाए गए लक्षणों की आनुवंशिक प्रकृति की खोज की जाए और व्यक्तियों, वर्गों या, जो इसके प्रति इच्छुक या अनिच्छुक 'नस्लों' में उनको स्थापित किया जाए। मानसिक योग्यता, नैतिक चरित्र, उन्माद, अपराध, और सामान्य शारीरिक विसंक्रमण सभी परिश्रम से अध्ययन किए गए। सामाजिक और राजनीतिक पक्ष पर, सुजनन विज्ञानी का उद्देश्य विज्ञान के निष्कर्ष को प्रचारित करना था, स्वस्थ लोगों को बढ़ावा देने की योजना पर बहस, और अस्वस्थ को हतोत्साहित करना, जनन करना, और सामान्य रूप से सामाजिक और राजनीतिक महत्त्व के ऐसे कार्यक्रम को प्रचारित करना।

सुजनन विज्ञान को सिर्फ एक ऐसी शक्ति के रूप में नहीं देखा गया जो कि मानवों के भावी पीढ़ियों में थी; इसे अर्धधार्मिक उत्तरदायित्व के रूप में लिया गया क्योंकि आधुनिक सभ्यता की स्थिति में, जैविक रूप से बीमार और अस्वस्थ लोगों को प्राकृतिक चयन से खत्म नहीं किया जाता बल्कि उन्हें जीने दिया जाता है और जनन भी करने दिया जाता है। इसलिए मनुष्य को वह काम करना होगा जो प्रकृति ने नहीं किया। सुजनन विज्ञानियों को पहली वैधानिक सफलता 1913 में मिली, जब संसद ने मानसिक मानसिक विकलांगता बिल पास किया, जिसे सुजनन विज्ञान शिक्षा समाज ने मानसिक रूप से पिछड़े लोगों को समाज के अन्य लोगों से, अलग करने के लिए और उनका प्रजनन रोकने के लिए प्रस्तावित किया था।

ब्रिटेन में सुजनन विज्ञान पर नए अध्ययन ने इसे मूलत: रूप से एक वर्ग के रूप में पहचाना है न कि 'नस्ल' घटना के रूप में। सुजनन विज्ञानियों का मुख्य कार्य कामगार लोगों के जैविक स्वास्थ्य को लेकर था। प्रमुख सुजनन विज्ञानियों ने सोचा कि सामाजिक वर्ग-आनुवंशिक योग्यता का एक प्रकार्य था, और सामाजिक नीतियों को जिसे उन्होंने प्रस्तावित किया वे कमज़ोर वर्ग के 'अस्वस्थ' लोगों के विरुद्ध निर्देशित थीं, विशेष रूप से सामाजिक अवशेष या सामाजिक समस्या समूह की ओर जैसे आदतन पिअक्कड़, भिखमंगे, अपराधी व्यक्ति।

18.4 उपनिवेशवाद के संदर्भ में नस्ल

एक बार जब मानव व्यवहार को आनुवंशिकता के स्थिर मस्तिष्क की संरचना के फलस्वरूप देखा गया, इसे आगे बढ़ाना कठिन नहीं था जिससे विभिन्न गुणों से सम्पन्न मानव समूहों को अलग करके उन्हें मानव समाज के इतिहास में अलग भूमिका प्रदान की गई। नस्लों की पदानुक्रमिकता वास्तव में मानव उपलब्धि की प्राकृतिक श्रेणी का कारण मानी गई। आम लोग भी इससे सहमत हुए क्योंकि इसने विश्व में स्वयं को यूरोपीय प्रतिकृति के अनुकूल प्रस्तुत किया।

मध्य उन्नीसवीं शताब्दी के आसपास, वास्तव में, कई विचारों के संप्रदाय उभरे जो जनसमूहों को एक-दूसरे से आंतरिक रूप से उच्च मानते थे। उनके अस्तित्व में आने का एक संभावित तर्क यह था कि वे साम्राज्यवाद की वास्तविकता की लोकप्रिय व्याख्या को ढूँढ़ रहे थे और इसे आम लोगों में बुद्धिसंगत बना देना चाहते थे।

किसी नस्ल की उपयुक्तता को उपनिवेशीकरण में खोजना और दूसरों की प्रवृत्ति को उपनिवेशीकृत होना पहले ही कई दार्शनिक विचारकों के कार्यों में दिखाई दिया, जिसे मुख्यत: नस्लीय आधार पर परिकल्पित किया गया। गुस्टाव क्लेम और ए. वुटके ने 1843 ई. में तथाकथित सभ्य नस्लों को क्रियाशील माना है, और अन्यों को निश्चेष्ट। कारस ने 1849 ई. में मानव समाज को 'दिन, रात और सुबह' के रूप में बाँटा, सभ्यता की श्रेणी में उनके स्थान के आधार पर, और यह चिह्नित किया कि कुछ समूहों को जो लगातार 'रात' में हैं उन्हें बाहर' निकालना पड़ेगा। नॉट और ग्लिडन ने पशु प्रवृत्ति को 'निम्न' नस्लों में वर्णित किया, और उनके समर्थकों ने कहा कि ऐसी विजित नस्लें धीरे-धीरे सुधर जाएँगी। इन सारे विश्लेषणों में यह स्पष्ट नहीं किया गया कि क्यों एक नस्ल चिर विजेता है और क्यों अन्य नस्लें चिर विजित होने को बाध्य हैं।

1850 के दशक का लेखन अधिक विशिष्ट बना। क्यों कुछ लोग 'क्रियाशील' (विकसित, उपनिवेशित) हैं और क्यों कुछ 'निश्चेष्ट' (पृथक्, विजित) हैं? क्यों कुछ लोग आवश्यक रूप से दिन हैं और दूसरे रात? शुरुआती तर्क में लोगों का एक-दूसरे से मानसिक दृष्टि से श्रेष्ठ होना बताया गया। यह कहा गया कि एक निश्चित रूप से दूसरे पर शासन करेगा। इसके अतिरिक्त, ऐसा कहा गया कि ये मानसिक लक्षण कुछ स्थिर गुणों के कारण थे, जिसे रेखांकित अवश्य करना चाहिए।

मौसम किसी भी प्रदत्त लोगों के समुच्चय के चारों तरफ अपरिवर्तनीय वातावरण का एक भाग था और इसने 'निम्न' नस्लों की 'निम्न' मानसिक अवस्था को व्याख्यायित किया। कैम्ब्रिज के मानव वैज्ञानिक संस्थान के उपाध्यक्ष ए.एच. कीन, ने प्रस्तावित किया कि अत्यधिक गरमी, और आर्द्रता (नमी) के कारण अन्त:कटिबंधीय क्षेत्रों के निवासियों के अस्तित्व के संघर्ष में, मानसिक पक्ष के मूल्य पर मानव का पाशविक पक्ष मजबूत हुआ। शीतोष्ण क्षेत्रों में जहाँ श्वेत लोग रहते थे कथित रूप से इसका उल्टा था।

दूसरा दिलचस्प तर्क यह था कि वहाँ मानसिक विकास का क्षय हुआ जहाँ भोजन प्रचुर मात्रा में उपलब्ध था जैसा कि ऊष्ण-कटिबंधीय क्षेत्रों में। दूसरी तरफ, यह दावा किया गया कि जहाँ भी मनुष्य ठंडे मौसम के साथ कठिन संघर्ष में हैं, वहाँ उन्होंने वीरतापूर्ण गुण हासिल कर लिए जैसे ऊर्जा, साहस और ईमानदारी। यहाँ पर नोट करना जरूरी है कि मौसम के विरुद्ध ''अस्तित्व के लिए संघर्ष'' श्वेतों और अश्वेतों के लिए अलग परिणाम दे रहा था। पहली स्थिति में इसने चरित्र के गुणों को विकसित किया जबकि दूसरे में मानसिक विकास के मूल्य पर पशुओं की तरह शारीरिक विकास हुआ।

'मानसिक गुण' से 'नस्लीय गुण' की कोटि में संक्रमण निश्चित रूप से नस्ल-संबंधी बहस का एक विकास था। बिना किसी स्थिर कारक जैसे भौतिक वातावरण के नए कथन अब दिए जा सकते थे। एक नस्ल, उदाहरण के लिए, सामान्य रूप से दूसरे से अधिक नैतिक कही जा सकती थी, जिसके लिए किसी भी 'प्रमाण' की आवश्यकता नहीं थी। ई.बी. टेलर इस तर्क के अन्वेषक थे : "मनुष्यों के उच्च और निम्न नस्लों में सीधा सा अंतर है, जिससे खोखले मस्तिष्क के बर्बर के पास विचार शक्ति नहीं होती जिससे वह सभ्य मनुष्य के नैतिक मानक के बराबर आ सके।"

जल्द ही उपनिवेशीकरण के तथ्य को किसी भी व्याख्या की माँग नहीं थी : 'हिंदुओं के सिर्फ शारीरिक गठन को देखना जरूरी है उनके द्वारा यह जानने के लिए कि वे परतंत्र क्यों हुए..." कमजोर शरीर कमजोर नैतिकता की ओर ले जाता है, और दोनों कमजोरियों (साथ में और अलग) अच्छी तरह से उपनिवेशवाद को व्याख्यायित करती है।

यह उद्धृत करने योग्य है कि ई.बी. टेलर, जिन्हें विकासवादी मानव विज्ञान का जनक कहा जाता है, ने अपने शैक्षिक अनुसंधानों के लिए सामान्य तौर पर उपर्युक्त तर्कों को ग्रहण किया। वह विश्वास के साथ कह सके कि "यह सोचना तर्कयुक्त था कि शीतोष्ण क्षेत्र के श्वेत नस्ल ने सबसे बाद में आकार ग्रहण किया जो अत्यधिक गर्मी को सहन करने में सक्षम नहीं थे लेकिन ज्ञान और शासन की शक्ति से युक्त थे।" साफ तौर पर एक विशिष्ट नस्ल मानसिक गुणों के आधार पर स्थापित की गई, मौसम के माध्यम से, जो या तो दासता के लिए या शासन के लिए उपयुक्त थी। तर्क का यह प्रयास इमर्सन के लिए यह पूछने के लिए पर्याप्त था, 'यह नस्ल ही थी जिसने दस करोड़ भारतीयों को सुदूर उत्तरी यूरोप के द्वीप की प्रभुता के अधीन कर दिया?"

किसी बिंदु पर, औपनिवेशिक नस्लों की मानसिक क्षमता के निर्धारण के रूप में आनुवंशिक रूप से निर्धारित शारीरिक प्रतिदर्श (शरीर के बाहरी आवरण में दृष्टिगोचर) भौतिक वातावरण/मौसम से अधिक महत्त्वपूर्ण बन गए। इन सभी के साथ, शोध की एक समानांतर प्रवृत्ति थी जो उपनिवेशिक व्यक्ति के भौतिक गुणों पर कार्य कर रहा था और उसी परिणाम पर पहुँचने की कोशिश कर रहा था, अर्थात् यह कह रहा था कि उपनिवेशिक लोगों को दास बनाना जरूरी था।

18.5 नस्ल और मानव विज्ञान

सामाजिक डार्विनवाद के सिद्धांत पर उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में काफी बहसें हुईं। विशिष्ट नस्ल को सामाजिक विकास की श्रेणी में स्थापित करने के लिए सिद्धांत में दो तरीके पाए गए :

i) विशिष्ट नस्ल में शारीरिक विकास का परीक्षण; और

ii) विशिष्ट नस्ल द्वारा निर्मित समाज के सामाजिक अवयव का विश्लेषण।

दूसरे को मुख्यतया अनदेखा किया गया, और पहला तरीका वैज्ञानिक समस्या बन गया। जहाँ तक वैज्ञानिक समुदाय का प्रश्न था, नस्ल का भौतिक विकास शारीरिक सौंदर्य से मूल्यांकित नहीं होता था – जो एक साधारण आदमी के लिए था। वैज्ञानिक लोग विकास के 'आंतरिक' भागों के विकास को सिद्ध करने में रुचि रखते थे – खोपड़ी, मस्तिष्क, नाक की हड्डी और इसी तरह के भाग। शोध का एक अपना ही रास्ता था। सामाजिक विकासवाद के प्रारंभिक चरणों में, नस्ल की मानसिक क्षमता का संबंध किसी शारीरिक गुण से स्थापित करने के प्रयास किए गए। 'कपालीय क्षमता' की संकल्पना, जो मस्तिष्क के आकार से संबंधित था, एक प्रारंभिक और स्थायी विचार थी।

कपालीय क्षमता की संकल्पना का सीधा प्रतिपादन इसके एक विचारक कीन के द्वारा किया गया। इस लेखक ने कहा कि 'मानसिक श्रेणीकरण' कई नस्लों में देखी जा सकती है, कपालीय क्षमता के आधार पर।

वास्तव में, डार्विन ने स्वयं यह महसूस किया कि मस्तिष्क के आकार और बौद्धिक क्षमता के विकास के बीच संबंध होता है। इस विचार को सिद्ध करने के उद्देश्य से कि उसने निम्न आँकड़ा किया : ''यूरोपियों के खोपड़ी में मस्तिष्क की आंतरिक क्षमता का औसत 92.3 घन इंच होता है, अमेरिकियों में 87.5 और आस्ट्रेलियाइयों में 81.9 घन इंच।'' यह सत्य है कि फ्रांज बोआ ने इस सिद्धांत को चुनौती दी और सन् 1922 में कहा कि यूरोपीय और मंगोल दोनों के मस्तिष्क बड़े होते हैं, न सिर्फ यूरोपीय लोगों के। बीसवीं शताब्दी में इस विचार के महत्त्व को अच्छी तरह से दर्शाया गया है।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में, दूसरा प्रसिद्ध विचार जिसने प्रभाव ग्रहण किया वह था कि ''काले लोग बच्चे हैं और इसी तरह से रहेंगे'। यह दिखाने के लिए अन्वेषण किए गए कि यह सब हुआ क्योंकि 'बौद्धिक क्षमता का एकाएक रुक जाना किशोरावस्था की उम्र में कपाल क्षमता के बंद हो जाने से होता है।'' एक नीग्रो बच्चा बहुत अच्छी तरह से सीखता है, किंतु उसके बाद 'असाध्य जड़' बन जाता है। इसके अतिरिक्त, धार्मिक, बौद्धिक, नैतिक, औद्योगिक और राजनीतिक तरक्की की कमी को कपाल क्षमता से जोड़ा गया।

उपर्युक्त वर्णन में यह स्पष्ट किया गया कि किस प्रकार संभावित वैज्ञानिक शोध को एक विशिष्ट दिशा प्रदान किया गया, जहाँ तक नस्ल की क्षमता के निर्धारण का प्रश्न है। ये 'अनुसंधान' आदमी की खोपड़ी के अलावा कई अन्य दिशाओं में होते रहे। यहाँ यह दिखाना पर्याप्त होगा कि नस्लीय भेदों के संबंध में धीमा, किंतु अनवरत, सभ्यता का पैमाना खोपड़ी के आकार से बदलकर जबड़ों के आकार, नाक के आकार, भुजाओं की लंबाई आदि मानव मापिकी के विज्ञान और मानव विज्ञान के नए प्रश्नों की ओर इशारा करते हैं।

इसके विपरीत दिशा में अन्वेषकों की शोध से यह जल्द ही साफ हो गया कि निम्न मानसिक विकास और शरीर के किसी भाग के आकार और बनावट में कोई सीधा संबंध नहीं है। फ्रांज बोआ ने कार्ल पीयर्सन इत्यादि के शोध को पुराने लेखकों जैसे गोबिन्यू, क्लेम, कारस, नॉट और ग्लिंडन के विचारों से मतभेद जाहिर करने के लिए उद्धृत किया जो मानव नस्लों में मानसिक भेदों के लक्षण को मानते थे। आधुनिक राष्ट्रवाद के विकास के परिप्रेक्ष में अधिक महत्त्वपूर्ण ढंग से, इन पुराने विचारों (जो अब विज्ञान के रूप में थे) के बने रहने के कारणों को उन्होंने पहचाना।

शताब्दी के अंत तक शारीकि प्रकार और मानसिक क्षमता के बीच कथित संबंध पर अनेक सवाल खड़े हो गए थे। 1896 में, यद्यपि श्वेत लोगों के उच्च मानसिक विकास पर बल दिया गया लेकिन, यह भी कहा गया कि ''मानसिक भेद सामान्य शारीरिक संरचना से स्वतंत्र हैं''। किस प्रकार कोई व्याख्या कर सकता था कि अलेक्जेंडर पोप की तरह ''तीव्र बौद्धिकता अशक्त शरीर में रह सकती है, जबकि सेनेगाम्बिया के मूर्ख नीग्रो भीमकाय शरीर के मालिक हैं?'' फ्रांज बोआ की तरह किया गया शोध का परिणाम, जो बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक दशक में स्थापित हो गया था कि **प्रत्येक व्यक्ति में मानसिक क्रियाकलाप ने समान नियम का अनुकरण किया चाहे वह जिस किसी भी 'नस्ल' का हो, और उसका प्रकटीकरण पूरी तरह से व्यक्तिगत सामाजिक अनुभव पर निर्भर था।**

इस विकासवादी विचारधारा का दूसरा आयाम था कि कई लोगों ने 'निम्न नस्लों' की बंदरों के अलावा अन्य जानवरों से तुलना की। दो नस्लों के बीच की दूरी इतनी अधिक सोची गई कि एक नस्ल पशुओं के नज़दीक मानी गई मानवों की तुलना में। एक लेखक ने आस्ट्रेलियाइयों के बारे में लिखा कि :

> ''शेक्सपीयर के मस्तिष्क और आस्ट्रेलियाइयों के मस्तिष्क के बीच का अंतर निस्संदेह पचास गुना ज़्यादा होगा जबकि आस्ट्रेलियाई मस्तिष्क और ओरांग-उटान के बीच कम अंतर होगा। गणतीय क्षमता में आस्ट्रेलियाई नहीं बता सकता कि उसके हाथों में कितनी

> उंगलियाँ हैं, वह अधिक नज़दीक है एक भेड़िया या शेर के अपेक्षाकृत सर रोवन हैमिल्टन के, जिन्होंने चौथाई आयन पद्धति का आविष्कार किया। नैतिक विकास में, यही आस्ट्रेलियाई जिसकी भाषा में न्याय और परोपकारिता के लिए कोई शब्द नहीं है, वह कम दूर है कुत्तों और बबून से अपेक्षाकृत हावर्ड के। आस्ट्रेलियाइयों को बंदरों की अपेक्षा शिक्षा की ज़्यादा ज़रूरत है। किंतु उनकी सीमा फिर भी बहुत जल्दी पहुँचती है। मनुष्य के सभी भेदक गुण, संक्षेप में, एक कठिन स्तर तक विकसित हुए हैं सामाजिक विकास के लंबे दौर से।''

ऐसे लोगों को पशुओं के बिम्ब के साथ वर्णित करना मानव जाति विज्ञान की विशेषता रही है। इसीलिए, अंडमानवासियों के वर्णन में नीग्रो लोगों का बकरे की तरह विशिष्ट श्वास बाहर निकालना गायब था, येगान की बौद्धिकता कुत्ते की अपेक्षा कम आँकी गई थी क्योंकि ''कुत्ते के विपरीत, वे भूल जाते हैं कि किस गुफा में खाने के बाद बाकी बचे भोजन को छिपाया गया था।'' आस्ट्रेलिया के जंगली पशुओं की तरह आस्ट्रेलिया के मनुष्य विशिष्ट थे और हमेशा छोटे आकार के थे। दक्षिणी अफ्रीकी समुदायों पर फ्रांसिस गैल्टन का अनुसंधान मानव-विज्ञानी साहित्य में शास्त्रीय बन गया और सार्वभौमिक रूप से उद्धृत किया जाने लगा, उच्च और निम्न नस्लों के बीच अंतर का महान् 'मानसिक अंतराल' दिखाते हुए। गैल्टन के अनुसार, कुत्ते और डमारा के बीच तुलना मनुष्य के लिए सम्मान की बात नहीं थी।

एक नस्ल का सबसे विकसित और दूसरे का सबसे अविकसित व्यक्ति के बीच तुलना करना, वास्तव में, दूसरे को पदावनत कर देता है पशुओं के कोटि के नज़दीक। यूरोपीय सौंदर्य को मानक माना गया, और उनसे अंतर दिखाने के लिए, अधिक निम्नकोटि का नमूना फोटो लेने के लिए चुना जाता था।

इस तरह के शोध कार्य इन समुदायों और जानवरों के बीच समानता दिखाते हुए वर्णनों पर भी आधारित थे। एक वर्णन के अनुसार, ''मानव जातियों के खंडित असभ्यों में अंडमान द्वीप के लोग हैं ... प्राचीन अरब और यूरोपीय यात्रियों ने उन्हें कुत्तों जैसे मुँह वाला मानव भक्षी कहा है।'' जैसा कि पहले कहा गया, हंटर ने भारत के 'आर्येतर' लोगों को 'विलुप्त जानवरों के अवशेष कहा जिन्हें जीवाश्म-विज्ञानी पहाड़ियों के गुफाओं में पाते हैं।'

विकासवादी मानव विज्ञान के युग में कुछ इस प्रकार कहा गया कि ये समुदाय वानरों से भी निम्न स्तर पर हैं।

18.6 नस्लीय 'अनुसंधान' और प्रभुत्व की राजनीति

इन अनुसंधान के पीछे जो 'असभ्य' लोगों के प्रमुख समूहों पर की गई थीं प्रेरणा क्या थी? उस काल की मानव-जातीय सामग्री एक प्रवृत्ति को चिह्नित करती है जो बताती है कि आदिम लोग विश्व विकासवादी पंक्ति के निम्न श्रृंखला से संबंध रखते थे। एक अलग प्रवृत्ति है जो उनके बर्बर व्यवहार पर ध्यान देती है। जॉन ल्यूबाक, उस काल के प्रमुख मानव-विज्ञानी और मानव-वैज्ञानिक संस्थान के प्रथम अध्यक्ष, ने 1865 में अपना लेख 'प्रागैतिहासिक काल' प्रकाशित करवाया। यहाँ वह 'आधुनिक असभ्यों', जैसे अंडमान द्वीप के लोगों, आस्ट्रेलियन और माओरिस का उपनिवेशीकरण करने पर जोर देते हैं। ये कथन महत्त्वपूर्ण थे उस संदर्भ में जहाँ यूरोपीय राजनीति और जनमत विश्वभर में उपनिवेशीय पहुँच की उपयुक्तता को चुनौती देते थे। नस्ल-प्रेरित अनुसंधान ने काफी आँकड़े प्रदान किये, बीसवीं शताब्दी तक जहाँ सामान्यत: तथाकथित नस्लों की बर्बरता देखी जाती थी।

इसके पुनरावलोकन में, उपनिवेशिक लोगों को विकासवादी सिद्धांतकारों ने विगत युग के नमूनों की तरह प्रस्तुत किया। इस बात पर जोर दिया गया कि एशियाई या अफ्रीकी, आस्ट्रेलियाई या स्थानीय अमेरिकी अतीत के अवशेष हैं। ऐसा एक पाठक की संवेदना को कुंद करने के लिए

किया गया जिससे वह उनकी वर्तमान स्थिति पर ध्यान न दे। मानव-विज्ञान की दृष्टि से उन्हें देखना उनकी राजनीतिक क्रियाशीलता के तथ्य को कम करके आँकना है। उदाहरण के रूप में भारत को नस्लों के एक बड़े संग्रहालय की तरह पेश किया गया – यह विशिष्ट विचार वर्तमान में लोगों की वैधानिक स्थिति की नकारता है। अधिक महत्त्वपूर्ण ढंग से, समाज में उन्हें एक अपरिवर्तित अतीत के अवशेष के रूप में पहचान मिली। कई मृत पीढ़ियों के अवशेष, जिनका अध्ययन, विश्लेषण, वर्गीकरण और प्रदर्शन किया गया।

यह मात्र संयोग नहीं है कि इंग्लैंड में और यहाँ तक कि उपनिवेशों में भी इन जातियों का प्रदर्शन अधिक लोकप्रिय था। इन्हें 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में एक वृहद् औपनिवेशिक प्रदर्शनी का रूप, मानव वैज्ञानिक प्रस्तुति के साथ, दिया गया। इन प्रदर्शनियों के दौरान इस तरह प्रचारित किया गया कि "उन्हें पूरी तरह से लेकर, आस्ट्रेलियाई आदिम लोग किसी भी प्राक् मानव के ज्ञात अभिलक्षणों का बेहतर प्रतिनिधित्व करते हैं।"

वर्तमान आदिम लोगों के 'पूर्वजन' के मामलों पर कार्य करते हुए दूसरा संभावित संबंध दिखाया गया, जो सभ्यता और नैतिक विकास के स्तर के बीच का संबंध था। यहाँ पर यह कहा गया कि यूरोपीय नैतिकता अधिक परिपूर्ण थी और 'पूर्वज' अपने मनोवृत्ति में अनैतिक थे। न सिर्फ पहले के समाज कम नैतिक माने गए, बल्कि वे भी जो उसके भी पहले के थे और जो अफ्रीकी और आस्ट्रेलियाई समाजों में वर्तमान अवशिष्ट थे। इस तरह के तर्क यह सिद्ध करते हैं कि आदिमों और स्थानीय अमेरिकियों की वृहद् स्तर पर हत्या और उनके स्थानों को उपनिवेश बनाना न्यायोचित था। दरअसल, यह स्पष्ट रूप से हैती के अश्वेत गणतंत्र के बारे में कहा गया था कि उपनिवेशों के सभ्य प्रभावों की अनुपस्थिति में, हैती के लोग फिर से मूर्ति पूजा, साँप पूजा, तथा नरभक्षण की ओर अग्रसर हो गए थे।

एक बार जब डार्विन की पुस्तक *डिसेंट ऑफ मैन* 1858 में आयी, उसके तुरंत बाद ही सामाजिक डार्विनवाद ब्रिटिश समाज और राजनीति में विचार का प्रभावी और लोकप्रिय विचार बन चुका था। इस व्यावहारिक विचार बिंदु के पीछे सामान्य तर्क भी थे। ताकतवर के अस्तित्व का सिद्धांत कमजोर 'नस्लों' पर राजनीतिक विजय और जरूरी हुआ तो उनके खात्मे को न्यायोचित प्रमाणित करता था। इस सिद्धांत और मुक्त व्यापार के आर्थिक नीति में समानता थी। इसके अतिरिक्त, इस सिद्धांत के प्रभाव में कारखानों में मज़दूरों, ग़रीबों, बूढ़ों और सामान्य रूप में समाज के कमजोर लोगों के लिए वैधानिक सुरक्षा को अस्वीकार करने के लिए वैज्ञानिक तर्क प्रदान किए गए। यदि वे पर्याप्त रूप से अस्तित्व के लिए संघर्ष नहीं कर सके, तो वे मरने लायक हैं। हर्बर्ट स्पेंसर और हेनरी मेन ने इस सिद्धांत का समर्थन किया सामाजिक समस्या के निदान की कुंजी के रूप में और घर में राज्य की भूमिका के लिए। साम्राज्यवादियों ने इसे **विस्तारवाद और उपनिवेशवाद की रक्षा में** उपयुक्त सैद्धांतिक निर्देशिका के रूप में अपनाया।

फिर भी, "ताकतवर का अस्तित्व" का सिद्धांत, जो विकासवाद का मुख्य आधार है, को 19वीं शताब्दी के अंत में बोअर युद्ध की घटना के दौरान चुनौती मिली। इस सिद्धांत ने साम्राज्यवादी शक्तियों को अपेक्षाकृत कम ताकतवर नस्लों से इतना दृढ़ विरोध झेलने के लिए तैयार नहीं किया था। सभ्यता, नैतिकता और आचारशास्त्र की परिभाषा में दूसरी चुनौतियाँ भी उभर रही थीं। नैतिकता के महत्त्व के बारे में कुछ समकालीन यूरोपीय विचारकों का मानना था कि यूरोपीय सामाजिक संगठन के बजाय आदिम समाजों ने स्वयं को विकसित किया था, जिसमें बच्चों और बूढ़ों को सुरक्षा सुनिश्चित करना, या इसके व्यक्तिगत सदस्यों को अधिकार देना शामिल था। 19वीं शताब्दी का तीसरा चतुर्थांश वह समय था जो, एक नैतिक समाज के प्रमाण चिह्न के रूप में कमजोर लोगों की सुरक्षा के बारे में बोलने का था। 'ताकतवर के अस्तित्व' का सिद्धांत हालाँकि यूरोपीय राजनीति और जनमत पर हावी था, फिर भी अत्यधिक रूप से आलोचना के शिकंजे में आ गया था। विकास को ऐसे शब्दों में परिभाषित किया जा रहा था जो अब संकीर्ण नहीं थे। हक्सले जैसे कुछ लोगों ने सीधे तौर पर सामाजिक डार्विनवाद का विरोध किया था और

कहा था कि वास्तविक सभ्य समाज का प्रतीक वह है जिसमें बने रहने के लिए प्रतियोगिता कम हो और जिसमें कमजोर को सुरक्षा का अधिकार हो, न कि सिर्फ ताकतवर को।

यह भी एक दिलचस्प तथ्य है कि सिद्धांत में, विकासवादियों की दृष्टि में समाज और साम्राज्यवादी नियमों में तेजी से आ रहे सुधार के बीच विरोध था। इसीलिए जब विकासवादी मानव जाति वर्णन भारत जैसे समाजों की तथाकथित अपरिवर्तनीयता (बहुत धीमे, लगभग अगोचर, कुछ हजार वर्षों के काल में परिवर्तन) पर केंद्रित होने लगे, औपनिवेशिक प्रशासक उन परिवर्तनों पर लगातार बल देने लगे जिसे ब्रिटिश लोगों ने अपेक्षाकृत कम समय में अन्जाम दिया।

संघर्ष का एक दूसरा क्षेत्र भी था : नस्लीय विकासवाद के सिद्धांत और ब्रिटिश व्यापारियों के तात्कालिक हित के बीच टकराव। वास्तव में, यह विकासवादी सिद्धांत के विघटन का प्रामाणिक राजनीतिक कारण भी बना। उन्नीसवीं शताब्दी में आदिम जातियों के प्रति मिशनरी और उपनिवेशिक प्रशासकों के एक नये वर्ग ने दिलचस्पी दिखाई – व्यापारियों ने। उपनिवेशीय बाज़ार के लिए जर्मनी से प्रतियोगिता ने राजनीतिक और व्यापारिक दृष्टियों से नस्लों के बारे में 'अध्ययन' को नया आकार प्रदान किया। डार्विन के निर्देशों पर आधारित पिछले दशकों के विज्ञान को छोड़ना पड़ा। यदि विकासवादी श्रेणी में नीचे के लोग सभ्य होने के लिए अधिक समय चाहें, वे इन वस्तुओं को कैसे प्रयोग कर सकते थे।

18.7 नस्लीय संकल्पना को लोकप्रिय बनाना

मानव जाति विज्ञानी पुस्तकों के लेखकों का यह कर्त्तव्य हो गया कि आम लोगों को यूरोपीय लोगों के 'छोटे नस्लों' में व्यापारिक रुचि के बारे में सूचित करें। '*नेटिव रेसेस ऑफ ब्रिटिश एम्पायर*' के संपादक ने लिखा कि चूँकि मानव विज्ञान की पुस्तकें अधिक तकनीकी और भारी थीं, इस शृंखला में शासन के असभ्य नस्लों के बारे में सूचना पठनीय रूप में भेजने का प्रयास है। नस्ल साहित्य की यह शैली नस्लों के प्रश्न पर पठनीय लोकप्रिय सामग्री की मुख्य विषय बन गई और बड़े पैमाने पर इसने उन राजनीतिक और आर्थिक उद्देश्यों की पूर्ति की जिसके लिए यह लिखी गई थी।

उस काल की मानव जाति विज्ञान की पुस्तकों ने कथाओं से उद्धरण लिया, और एक पशु और कभी-कभी आदिवासी अपराधी के प्रतिबिम्ब को काफी प्रभावी ढंग से प्रक्षेपित करने का प्रबंध किया। इस विषय के कई रूप थे। किपलिंग की फैंटेसी कथा, जिसमें भेड़िए द्वारा पाले गए बच्चे का चित्रण है, ने एक मानव जाति विज्ञानी को इतना प्रेरित किया कि वह ठीक उसी तरह से वास्तविक घटना को ढूँढ़ने लगा जो कि उपर्युक्त पुस्तक में उद्धृत की गई है। उसने मानव-विज्ञान संस्थान की एक पत्रिका में 'भारत में जंगली जीवन' नामक एक लेख भी छपवाया, जो यह छाप छोड़ता था कि ऐसे आधे जंगली भारतीय जीवन के अभिन्न अंग थे। इस योगदान को '*लीविंग रेसेस*' के लेखक द्वारा उद्धृत किया गया है, जो संदर्भों और पत्रिका के पृष्ठों की संख्या के साथ पूर्ण है और एक वैज्ञानिक विश्लेषण की छाप छोड़ता है। इसके अतिरिक्त, लेख के लेखक को भारतीय भौगोलिक सर्वेक्षण के एक अधिकारी के रूप में दिखाया गया था, जिससे रिपोर्ट की प्रामाणिकता और बढ़ी। इस तरह शोध के साथ फंतासी भी जुड़ गई।

यात्रा-पुस्तक, लोकप्रिय मानव जातीय कार्य, मानव विज्ञानियों और कथा लेखकों के बीच की धुरी पाठक के मन पर अधिक प्रभाव छोड़ती है। चयनित और अलंकृत रूप में एक स्रोत ने दूसरे को प्रतिष्ठित किया। किपलिंग और अन्य लेखकों की कहानियों को सही ठहराते हुए वैज्ञानिक आवरण ने प्रामाणिकता की छाप छोड़ी। जबकि ये कथा लेखक और कार्टूनिस्टों ने मानव-विज्ञान से उद्धृत किया, लोकप्रिय मानव-विज्ञान ने कथाओं से सीख ली। तथ्य और कथा के बीच सीमारेखा, जहाँ तक कि विश्व के 'नस्लों' का प्रश्न है, धीरे-धीरे सूचना के चक्रीय प्रकृति से विकृत होती गई।

18.8 भारत और नस्ल की अवधारणा

19वीं शताब्दी के अंतिम चतुर्थांश के दौरान, विशेष रूप से 1857 की घटना के बाद, ब्रिटिश प्रशासकों में 'भारत को समझने' की तीव्र जिज्ञासा थी। यह वर्गीकरण और विभाजन का जमाना था : जैसे सैनिक या युद्ध करने वाली नस्लें; अपराधी-जनजातियाँ, खेतिहर या व्यावसायिक जातियाँ आदि। जहाँ भारत ने विश्व स्तर पर विकासक्रम में स्थान पा लिया था, भारत के अंदर भी विकासवादी सिद्धांत के माध्यम से वफादार और विद्रोही, सम्मानीय और अपराधी तथा दस्यु और दास को अलग किया गया।

डब्ल्यू. डब्ल्यू. हंटर ने स्वयं भारत में ही विकासवादी श्रेणी को प्रस्तावित करके, भारतीय लोगों के पदानुक्रमीकरण की अवधारणा में योगदान दिया जिसमें दावा किया गया कि यह ''नस्लों का बड़ा संग्रहालय है जिसमें हम मनुष्यों के उच्च से निम्न स्तर की संस्कृति का अध्ययन कर सकते हैं ...'' भारत में आर्य, जिनसे कि ब्रिटिश लोगों ने राजनीतिक निकटता महसूस की, न सिर्फ गोरे थे, बल्कि उच्च कुल के भी थे, राज्य की भाषा बोलते थे, और शक्तिशाली ईश्वर की उपासना करते थे। दूसरे मूल निवासी थे जिन्हें नवागन्तुक आर्यों ने पहाड़ों पर खदेड़ दिया था या मैदानी भागों में गुलामी के लिए रहने दिया था। बीस वर्ष बाद, ये लोग समान विकासवादी मानसिकता से युक्त एडगर थर्स्टन के अध्ययन के विषय थे।

उस काल की मानव-जातीय लेखन में, इतिहास की तरह ग्रहण किए गए हिंदू धार्मिक पाठों, और डार्विन की वैज्ञानिक शब्दावली का अच्छा मिश्रण था। वेदों के पाठों को डार्विन से लिए गए प्रमाणों द्वारा समर्थन करना ब्रिटिश मानव-विज्ञानियों के इतिहास-पठन का तरीका था। कुछ महत्त्वपूर्ण नमूने यहाँ दिए जाते हैं :

> ''भारत के मूल लोगों के बारे में आम तौर पर बोलने के लिए, हमारे पास पवित्र पारंपरिक वर्णन है जो दासों को वानरों से संबंधित घोषित करते हैं। ... वर्तमान आदिवासी लोगों में हम यहाँ-वहाँ विशेष चिह्न पाते हैं जो संभावित कुछ निम्न प्रकार के पशु अस्तित्व से उत्पत्ति की ओर इशारा करते हैं।''
>
> आगे, ''वेदों में दिए दस्युओं के वर्णन और आज के भारतीय आदिवासी लोगों की तुलना करें तो वह दर्शाता है कि उनमें से कुछ निश्चित रूप से छोटे शरीर और मस्तिष्क के मालिक होंगे – वास्तव में, कि वे आज के मनुष्यों से भिन्न अत्यधिक दूषित तरह के व्यक्ति होंगे।
>
> 'आर्य लोग उन्हें दस्यु, या शत्रु कहते थे ... वास्तव में, उनकी तुलना आज के अंडमान के निवासियों के साथ की जा सकती है। वे उनको कच्चे मांस का भक्षी, ईश्वर को न मानने वाले, बिना विश्वास के, बिना नियम कानून के, कायर, विश्वासघाती और बेईमान कहते थे ... ब्राह्मणों ने दस्युओं या आदिम लोगों को जंगली या बंदर बताया ... रामायण में, वानर सेनापति हनुमान ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।'' हंटर द्वारा आर्येतर लोगों का एक अपराधी के रूप में वर्गीकरण को थर्स्टन ने बाद में उद्धृत किया। उनके अनुसार, समतल भूमि की मूल नस्लें ''हिंदुओं, मुसलमानों और ब्रिटिश लोगों के अधीन आनुवंशिक आपराधिक वर्ग की पूर्ति की। आर्येतर पहाड़ी नस्लों को वैदिक काल से ही लूटमार करने वाला बताया गया है।''

यह लेखक बार-बार वर्तमान और अतीत को मिलाता रहता है। आज के आदिम भूत काल के भी आदिम हैं; इस मामले में लगता है कि कोई विकास ही नहीं हुआ। वास्तव में, जो आज अस्तित्व में हैं, उनमें कुछ बंदरों के समान हैं जिन्हें डार्विन ने वर्णित किया है – न सिर्फ ब्राह्मण उन्हें बंदर कहेंगे, डार्विन भी उन्हें वैसा ही कहेगा। यहाँ यह दिलचस्प है कि वर्तमान अंडमान द्वीपसमूह के लोगों का एक स्तर पर बंदर/ कपि/ कल के आदिम के रूप में वर्णन

अतीत के आर्यों और आज के डार्विनवादियों में समान रूप से विद्यमान है। ऐसा मालूम पड़ता है कि इस भाग की जनसंख्या का एक समान अध्ययन वैदिक काल से लेकर डार्विन काल तक हुआ है। दूसरे शब्दों में, विकासवाद का सिद्धांत ब्रिटिश मानव जाति विज्ञानियों/ प्रशासकों द्वारा काफी रचनात्मक रूप में प्रस्तुत किया गया जिसमें उसने डार्विनवादी अवधारणा को पूर्ण रूप से ब्राह्मणवादी कर दिया।

19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध के आदिम लोगों के विश्लेषण के इस प्रारूप में, वैज्ञानिक घटक वर्तमान और अतीत के बीच एक महत्त्वपूर्ण सेतु था। वेदों ने प्रारंभिक युग में आदिम लोगों के ऊपर विजय को उचित ठकराया, और डार्विन का इस्तेमाल हमेशा 'ताकतवर का अस्तित्व' के माध्यम से उन्हें वर्तमान में अधीन करने में हुआ। इस प्रकार के विश्लेषण को एक व्यापक रूप सर्वप्रथम हंटर ने दिया। उसने अप्रत्यक्ष रूप से डार्विन के माध्यम से, ब्रिटिश उपनिवेशकों और वैदिक ब्राह्मणों के बीच समानता बताई। दोनों ने अतीत के दास या दस्यु को वर्तमान के आदिवासियों के समकक्ष पाया।

डार्विन के माध्यम से पाठकों को बताया जाता है कि आदिवासियों के लिए सिर्फ एक रास्ता है : जैसा कि आर्यों ने किया, उन्हें पहले जीतना पड़ेगा। ब्रिटिश लोगों ने आर्यों के साथ निकटता अनुभव की क्योंकि दोनों के पास सर्वोच्च ईश्वरीय सत्ता और सभ्यता थी जिसे वे भलीभाँति तथाकथित ईश्वरविहीन और असभ्य नस्लों पर थोप सकते थे। हंटर ब्रिटिश साम्राज्यवाद के बारे में प्रशंसात्मक शब्दों में लिख सकते थे : ''हृष्ट-पुष्ट आर्यों का विस्तार हुआ ... उनका स्वयं में तथा ईश्वर में भी विश्वास था। अन्य विजेता नस्लों की तरह, वे विश्वास करते थे कि वे और उनके देवता आदिम लोगों से उच्च हैं। वास्तव में, यह विश्वास किसी राष्ट्र की सफलता के लिए महान् उपलब्धि हैं।''

ब्रिटिश लोगों के लिए प्रबल ऐतिहासिक तर्क था। 19वीं शताब्दी से अंग्रेजों के विस्तारवादी विचार समतल से पहाड़ी की ओर बढ़ने लगे, और प्रशासन पर बागानों के विकास के लिए दबाव डालने लगे। पहाड़ी जनजातियाँ वृहद् रूप में राजनीतिक और प्रशासनिक समस्या बन गईं क्योंकि उन्होंने अपने जमीन के अधिग्रहण को, बागान कामगारों की नियुक्तियों को, और मिशनरियों द्वारा उनके सामाजिक संस्थाओं के हस्तक्षेप को रोकने का प्रयास किया। 1878 में नागाओं से समस्या थी, 1855 से सांथालों से कई वर्षों तक संघर्ष हुआ।

पहले, 1835 में, नैतिक आधार पर कोंध जनजाति द्वारा की जाती मानव बलि को रोकने के बहाने से ब्रिटिश सेना ने उनके गाँवों को जला डाला और आगे के प्रतिरोध को रोकने के लिए लंबे समय तक डेरा डाले रहे। ब्रिटिश लोगों के द्वारा जनजातियों को लेकर नियमित दमन प्रारंभ किया गया। इन संकल्पनाओं के माध्यम से, ब्रिटिश लोगों ने सोचा कि, सुधारातीत दस्यु सफलतापूर्वक दासों में या तो मज़दूर के रूप में या ब्रिटिश सैनिक के रूप में बदल जाएँगे।

18.9 सारांश

नस्लवाद, तब, एक विचाराधारात्मक ताकत है जिसने प्रभुत्व के राजनीतिक और आर्थिक संबंध के माध्यम से जनसंख्या के कुछ भागों को विशिष्ट सामाजिक वर्ग स्थिति में ला खड़ा कर दिया और सामाजिक संबंधों को विशिष्ट विचारात्मक तरीके से संरचित किया। जैसा कि हमने नस्ल के सामान्य विचार पर ऐतिहासिक सर्वेक्षण किया, यह सामने आया कि 'नस्ल' शब्द कई समाजों में और कई ऐतिहासिक मोड़ों पर कई तरीकों से प्रयुक्त होता है। इस संदर्भ में यह याद रखना महत्त्वपूर्ण है कि जो भी बदलता हुआ शब्द 'नस्ल' और 'जातीयता' के लिए वर्तमान परिप्रेक्ष में प्रयुक्त हो, हमने व्यवहार में पूरी दुनिया में नस्लीय और जातीय संघर्ष को बढ़ते हुए रूप में देखा है।

असंख्य और विकट रूपों में नस्ल और नस्लवाद का विचार आज भी जीवित है।

18.10 अभ्यास

1) औपनिवेशिक प्रभुता और नस्ल की अवधारणा में क्या संबंध है?
2) उन तरीकों पर चर्चा करें जिनसे विज्ञान ने नस्लीय भेद की संकल्पना को आगे बढ़ाया।
3) भारत में नस्ल की अवधारणा कैसे विकसित हुई?
4) नस्लीय सिद्धांत को आगे बढ़ाने में मानव-विज्ञान के विषय ने क्या भूमिका निभाई?

18.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें

लेसबैक एंड जॉन सोलोमन, *थ्योरीज़ ऑफ रेस एंड रेसिज़्म : ए रीडर* (लंदन एंड न्यू यार्क, राउटलेप, 2000)

फ्रांज बोआ, *दि माइंड ऑफ प्रिमिटिव मैन*, (न्यू यार्क, दि मैकमिलन)

सी चार्ल्स डार्विन, *दि डिसेंट ऑफ मैन* (लंदन, जॉन मुरे, 1890, सेकंड एशियन पब्लिशड इन 1874)

ए.एच. कीन, *दि वर्ल्ड्स पीपुल्स : ए पॉपुलर एकाउंट ऑफ देअर बॉडीलि एंड मेंटेल करैक्टर्स, बीलीफ्स, ट्रेडिशंस, पोलिटिकल एंड सोशल इंस्टीट्यूशंस* (लंदन, हचिंसन एंड कं., 1908)

केनन मलिक, *दि मीनिंग ऑफ रेस : रेस, हिस्ट्री एंड कल्चर इन वेस्टर्न सोसाइटी* (लंदन, मैकमिलन, 1996)

मीना राधाकृष्णन, 'कॉलोनियलिज़्म, इवोल्यूशनिज़्म एंड एंथ्रोपोलॉजी – ए क्रीटिक ऑफ दि हिस्ट्री ऑफ आइडियाज़ 1850-1930', रिसर्च इन प्रोग्रेस पेपर्स, *हिस्ट्री एंड सोसाइटी*, थर्ड सीरीज नं. XIX नेहरू स्मारक लाइब्रेरी, न्यू देहली, जून 1997

नैंसी स्टेपन, *दि आइडिया ऑफ रेस इन साइंस* (लंदन, मैकमिलन, 1982)

एम. ए. इतिहास

पाठ्यक्रमों की सूची

पाठ्यक्रम कोड	पाठ्यक्रम का शीर्षक	क्रेडिट
एम.एच.आई.-01	प्राचीन और मध्यकालीन समाज	8
एम.एच.आई.-02	आधुनिक विश्व	8
एम.एच.आई.-03	इतिहास-लेखन	8
एम.एच.आई.-04	भारत की राजनीतिक संरचनाएं	8
एम.एच.आई.-05	भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास	8
एम.एच.आई.-06	भारत में सामाजिक संरचनाओं का विकास	8
एम.एच.आई.-07	भारत में धार्मिक चिंतन और आस्था	8
एम.एच.आई.-08	भारत में पारिस्थितिकी और पर्यावरण का इतिहास	8

एम.एच.आई. - 3 : इतिहास-लेखन

खंड-वार पाठ्यक्रम संरचना

खंड - 01	इतिहास का परिचय
खंड - 02	पूर्व-आधुनिक परंपराएँ-1
खंड - 03	पूर्व-आधुनिक परंपराएँ-2
खंड - 04	आधुनिक काल में इतिहास-लेखन की दृष्टियाँ-1
खंड - 05	आधुनिक काल में इतिहास-लेखन की दृष्टियाँ-2
खंड - 06	भारतीय इतिहास-लेखन की विभिन्न दृष्टियाँ और विषय-1
खंड - 07	भारतीय इतिहास-लेखन की विभिन्न दृष्टियाँ और विषय-2